श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण]
१०००

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली।—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्डया,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोयती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	वारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी,	जयपुर
२२	,,	मन्त्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्डया,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह

२५	श्रीमान्	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचद हरकचद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचन्द जी जैन ए० इन्जीनियर,	कानपुर
३०	,,	मन्त्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	सचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमक की मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
४५	,,	बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन बजाज,	गया
३८	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावड़ा,	झूमरीतिलैया
३९	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील स्वरूपनगर,	कानपुर
४०	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४१	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४२	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४३	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४४	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोटः— जिन नामोंके पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचू' निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

•••○○○•••

ज्ञानार्णव प्रवचन तृतीय भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥१२३॥

भवमरुस्थलमे जीवका एकाकी भ्रमण—यह आत्मा महान् आपत्तियोंसे भरे हुए और दुःखकी ज्वालावोंसे जाज्वल्यमान् संसाररूपी मरुस्थलमें अकेला ही भ्रमण करता है । यह संसार मरुस्थलकी तरह है । जैसे मरुभूमिमें मनुष्योंका पता नहीं, वृक्ष तक भी नजर नहीं आते, केवल एक नीरस धूल ही धूल पड़ी हुई है, पानीका भी निशान नहीं। जहाँ अत्यन्त दीप्त ज्वालाएँ लपटें चला करती है, ऐसे मरुस्थल की तरह यह संसार है । इसमें भी अपना कोई सहारा नहीं । किसी की क्षत्रछाया भी यहाँ काम नहीं करती । साथ ही अनेक प्रकारके कष्टोंकी ज्वालाएँ यहाँ भरी पड़ी हुई हैं, ऐसा दुर्गम यह संसारमरुस्थल है । इसमें यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है ।

शरीरका अन्तमें टकासा जवाब—भैया ! जिस शरीरको इतना जीवन में खिलाया, हिसाब लगाओ तो जिसकी ६०-७० वर्ष की उमर है, करीब करीब एक वैगन भर भोजन खा लिया होगा। जिस शरीरको नाना रसीले व्यञ्जन बनावना कर खिलाया, बडे श्रम कर करके जिसे पुष्ट किया है उस शरीरसे विदा होते समय यह जीव, यह मनुष्य कहता है कि अरी काया, इस समय और सब कुछ छूटा जा रहा है, छूटने दो, हमने उनका कुछ किया भी नहीं, लेकिन तुम्हारी तो हमने बड़ी फिक्र रक्खी। रात दिन कुछ नहीं गिना । रातमें भी खाया, दिनमें सूर्योदयसे पहिलेसे ही चाय होना, थोड़ी देर बाद नाश्ता होना, भोजन होना और नवीन-नीवन प्रणालीके बिस्कुट हैं, और कैसे कैसे ढंगसे रात दिन खूब खिलाते पिलाते रहे, खूब सेवा की तेरी, तुझे शृङ्गारसे सज धजसे रक्खा, बढ़िया कपड़े पहिनाये, नाना तरहके गहने पहिनाये, बड़ा साज शृङ्गार सजाया, अब हे काया, तू तो चलेगी ना साथ ? और तो कोई चल नहीं रहे । तब कायाका उत्तर यही होता है कि अरे बावले जीव ! तुझे कुछ होश नहीं है,

तू बेहोशीमें बातें करता है। अरे मैं बड़े-बड़े चक्रवर्ती तीर्थंकर और बड़े-बड़े पुरुषोंके साथ भी नहीं गयी। तू तो एक तुच्छ किंकर-सा है। उसकी तो यह आन बान है कि साथ नहीं जाता।

जीवका सर्वत्र एकाकीपन—यह जीव इस ससारमे जहाँ कष्ट ही कष्ट भरे हुए हैं अकेला ही भ्रमण करता है। मरने पर भी अकेला ही है और जीवनमें भी अकेला ही है। कुछ त्रुटि बन जाय, कुछ विकल्प हो जाय, कुछ भावना बने, उन सबका जो कुछ परिणाम होता है उसे यह अकेला ही भोगता है। यह ससारमार्गमे भी अकेला ही है और मुक्तिके मार्गमें चले तो वहाँ भी अकेला ही है। यह जीव अकेला ही अपने कर्म करता है और अकेला ही कर्मोंके फलको भोगता है।

स्वय स्वकर्मनिर्वृत्त फल भोक्तु शुभाशुभम।
शरीरान्तरमादत्ते एक सर्वत्र सर्वथा ॥१३४॥

ससारी जीवके अकेलेपनका विवरण—इस ससारमें यह आत्मा अकेला ही अपने पूर्व कर्मोंके सुख दु खरूप फलको भोगता है और अकेला ही सारी गतियोंमे एक शरीरसे दूसरे शरीरको धारण करता रहता है, यह है इसकी चर्या। जैसे कोई पूछे साहब आपकी दिनचर्या क्या है, ऐसे ही इन ससारीजीवोंसे पूछो तेरी चर्या क्या है ? तो उनकी चर्या क्या है सुन लो। कुछसे कुछ अटपट विकल्प करना और उन विकल्प कर्मोंसे जो बध-बन्धन हुआ है उसके उदय कालपर उन विषयकषाय भोगोंका भोगना। करना, भोगना, मरना, जीना इसके चार बड़े प्रोग्राम हैं।

ससारी जीवकी चर्या—सुन लो भैया ! यह ससारी प्राणी अपनी दिनचर्या बता रहा है। सब कुछ इन चारों बातोंमे आ गया—करना, भोगना, मरना, जीना। एक शरीर छोड़ा दूसरा शरीर धारण किया, यही करता चला आया यह जीव और ये चारोंके ही चारो क्रमसे नहीं, एक साथ ये चारों बातें चल रही हैं। जिस समय कुछ कर रहे हैं उस ही समय भोग भी रहे हैं और प्रत्येक समय हम जीवित रहते हैं और मरते जाते हैं। जैसे आयुक्षणका उदय हुआ वह तो जीना है, पर उदयके साथ क्षण भी तो निकला, वह इसका मरना है। कोई कई काम एक साथ कर सकता है क्या ? क्रमसे काम करेगा। ससारी प्राणी की आप चर्या पूछते हैं ना ? तो यही है वह चर्या। करना, भोगना, जीना, मरना और वे भी सब एक साथ चल रहे हैं।

करनी व भरनीमें अकेलापन—अपने कर्मोंसे रचे हुए शुभ अथवा अशुभ फलको भोगनेके लिए यह जीव अकेला ही नवीन-नवीन शरीरोंको धारण करता रहता है। पापकर्म किया, तीव्र पापकर्म किया तो उसका

फल भोगनेके लिए नरक जैसे नये शरीरोंको ग्रहण करना होगा। पुण्यकर्म किया, विशेष पुण्यकर्म किया तो उसके फलको भोगनेके लिए देव जैसे नये शरीरको ग्रहण करना होगा। किए हुए शुभ अशुभ फलोंको भोगनेके लिए यह जीव नये नये शरीरोंको ग्रहण करता है। शरीर पुराना हो गया, बूढा हो गया, जीर्ण हो गया, इन्द्रिया थक गयीं, चल उठ नही पाते, ऐसी स्थितिमें इस जीवको इस बातमें खुशी तो होनी चाहिए थी कि अब इसे नया शरीर मिलेगा रंगा चंगा, लेकिन कोई मनुष्य इस बातमे खुशी नहीं मानता। जैसा भी मिला हो शरीर उसही शरीरमें तो पर्यायबुद्धि है, अन्य बात कैसे सोच सके? बाह्य बात कुछ भी सोचे उससे उठता क्या है? जैसा यह चाहता है वैसा होता कहाँ है? किए हुए शुभ अशुभ कर्मों का फल भोगनेके लिए इस जीवको नया शरीर धारण करना होता है। वह भी अकेले। अकेला ही करना, अकेला ही भोगना, अकेले ही शरीर ग्रहण करना और अकेले ही इस शरीरसे विदा हो जाना।

जीवका एकाकित्व—यह एकत्वभावनाका प्रकरण है। सर्व भावनाओं मे सीधी सुगम बलशाली यह एकत्वभावना है। एकत्वके सम्बन्धमे हम बहुत-बहुत गहरा विचार तक बना सकते हैं। यह अकेलापन तो एक मोटेरूपसे व्यवहारमे बताया है। यह आत्मा स्वय एकत्व स्वरूपको लिए हुए है वह अकेला स्वरूप कैसा है? जैसा यह सहज है, ज्ञान ज्योतिर्मय है, ज्ञानशक्तिस्वरूप है तैसा यह अकेला है। इसमें उपाधिका बन्धन नहीं है। स्वभावदृष्टिसे तको तो यह आत्मा केवल एक अपने स्वरूपमात्र है। ऐसी एकत्वकी दृष्टि जिन योगीश्वरोंके जगी है वे इस एकत्वकी रुचिके प्रसादसे सर्व उपाधियोंको समाप्त कर डालते है।

सकल्पानन्तरोत्पन्न दिव्य स्वर्गसुखामृतम।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशय·॥१३५॥

स्वर्गसुखमे भी अकेलापन– यह जीव अकेला ही स्वर्गोंकी शोभासे रंजित हृदय वाला होकर देवोपनीत सुखको सकल्पमात्र से भोगता है। देवका सुख सकल्पके अनन्तर उत्पन्न हो जाता है। ये सब सासारिक बड़प्पनकी बाते हैं। जैसे यहाँ अनेक आदमी ऐसे समर्थ है, ऐसे वैभव-शाली हैं कि जो चाहें जैसी बात, करीब-करीब तुरन्त बना डालते हैं। स्वर्गोंमें, देवोंमें तो वहा कुछ श्रम भी नहीं करना, आजीविका के कार्य खेती दुकान आदि भी नहीं करना है, केवल एक भोगने-भोगनेका ही वहाँ काम पड़ा है, करने का कुछ है ही नहीं, लेकिन यह बात नही है कि वे कुछ करते नहीं हैं। वे ईर्ष्या करते, स्नेह करते, द्वेष करते, बस भावों भावों को ही वासनाका काम करते हैं। उन्हें मकान बनानेका काम नहीं है,

संकल्प किया, भाव बनाया और जैसा चाहा वैसा मनमाना सुख भोगने लगे। यह बात भी वे जीव अकेले ही किया करते हैं।

सुख दु:ख दोनोंमें जीवका अकेलापन—भैया! जैसे दु:खमें कोई साथी नहीं होता ऐसे ही सुखमें भी कोई साथी नहीं होता, अर्थात् दु:खकी तरह सुखको भी जीव अकेला ही भोगते हैं। भले ही किसी सुखके प्रसंगमें दो चार इष्टजन मिलकर सुख भोगते हों, पर वे सबके सब अपना ही अपना सुख अकेला रहकर भोगते हैं, कोई किसीके न सुखका साथी है और न दु:खका साथी है। यहां लोग कहते हैं कि हमारा इतने लोगोंसे परिचय है। अरे कहाँ परिचय है? सब एक स्वार्थसाधना, विषयसाधना, कषायोंकी अनुवृत्तिका झमेला है और इस कारण लग रहा है कि हमारे बहुतसे साथी हैं। वस्तुका स्वरूप स्वकीय स्वकीय एकत्वमय है। किसी वस्तुका कोई दूसरा पदार्थ साथी हो ही नहीं सकता। तब इस जीवका भी साथी कौन है? अकेला ही सुख दु:ख यह जीव भोगता है, अकेला ही जन्म-मरण करता है। सर्वत्र यह जीव अकेला है। स्वर्गोंमें गया तो वहां भी इस जीव ने अकेला ही स्वर्गसुखको भोगा।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथ वा।
सुखदु:खविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥१३६॥

संयोग वियोगमें जीवके साथीका अभाव—इस देहधारीका कोई सखा नहीं है। चाहे संयोगकी स्थिति हो, चाहे वियोगकी स्थिति हो, किसी भी जगह इस जीवका कोई मित्र नहीं है। अनिष्ट संयोग होता है तो इस जीव को अकेला ही दु:ख भोगना होता है, कोई साथी नहीं है। इष्टसंयोग हो तो वहाँ भी जो गुजरता है परमार्थसे वह भी दु:ख ही है, क्षोभ ही है। उस क्षोभको भी यह जीव अकेला ही सहता है। कोई इसका दूसरा साथी नहीं है। वियोगके कालमें प्रत्यक्ष देखा करते हैं कि सबको अकेला ही मरना होता है और घरमें जो लोग जीवित हैं वे अकेले ही दु:ख भोगते हैं।

मरणमें टोटा किसका?— इस प्रसंगमें जरा एक बात पर तो दृष्टि डालो कि एक व्यक्ति मर गया और घरके ७—८ व्यक्ति उसमें दु:खी हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें यह तो बतलावो कि टोटेमें मरने वाला रहा या घर के जिन्दा बचे हुए लोग टोटेमें रहे? अरे मरने वाला तो चला गया, वह नहीं रो रहा है। वह तो जैसे कर्म उसने किये वैसी ही गतिमें होगा। अच्छा कर्म किया तो स्वर्गमें जाकर देव हुआ, या कहीं अच्छे उच्चकुलमें उसने मनुष्यदेह धारण किया। तो वहाँ तो यह जीव बहुत सुखमें है और ये जिन्दा बचे हुए घरके ७—८ लोग यहां हैरान हो रहे हैं। उसके मरनेका दु:ख और फिर दिन भर लोग आ रहे हैं, तांता लगा है तो उनको देख

देखकर भी दुःख बढ़ता है और कभी दुःख न भी बढ़े तो झूठमूठ रोकर अश्रु बहाकर परेशानी तो करनी ही पड़ती है और यह बात एक दिनकी नहीं कमसे कम १२-१३ दिन तो मुकर्रर कर ही दियो तब तक तो बराबर रोते ही चलो। कोई किसी दिन आया, कोई किसी दिन आया तो मरने वाला टोटेमे रहा या परिवारमें जीवित बचे जो लोग हैं वे टोटेमें रहे?

अज्ञानमें वास्तविक टोटा—भैया! टोटे वालेका असली उत्तर तो अपने ज्ञान और अज्ञानका उत्तर है। जिस जीवके अन्तरमें ज्ञान बना हुआ है वह जीव तो लाभमें है और जिसके मोह अज्ञान बना है वह जीव अलाभ में है। संयोग हो, वियोग हो वहां भी यह जीव अकेला ही सुख दुःख भोगता है, ऐसे ही जन्म अथवा मरण हो उसमें भी यह जीव अकेला ही है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ये जन्ममरणके चक्कर लगे हैं यह एक बड़ी परेशानी है। ज्ञानी जीवकी दृष्टिमें जन्म और मरण दोनों एक समान नजर आते हैं, जन्ममें कौनसी नफेकी बात हुई और मरणमें कौन सी हानिकी बात हुई?

मरणका महत्त्व—कहो मरणके समयमें परिणाम विशुद्ध रह सकते हैं और जन्मके समयमें विशुद्ध नहीं रह सकते हैं। ऐसी बात दूसरोंके लिए ही न देखो। खुदके जीवपर तो कहो मरणके समय विशुद्ध परिणाम रहें क्योंकि जीवनमें खूब सीखा है, समझा है, अनुभव किया है, आत्महितके लिए उसका अब प्रयोग कर सकता है। पर जन्मसमयमें कोई सावधान परिणामों से नहीं जन्मता, बेहोशी ही बनी रहती है। कई दिन तक इन्द्रियां भली प्रकार काम न कर सकेंगी। जन्म समयमें किसी को समाधि उत्पन्न नहीं होती, पर मरणसमयमें इस जीवको समता, समाधि, ये सब भाव जग सकते हैं। ज्ञानी जीव तो जन्मकी अपेक्षा मरणको महत्त्व देता है, मरण के समयमें समाधि परिणाम करता है।

सर्वत्र एकाकित्वके परिज्ञानसे शिक्षा—यह जीव जन्मता तो अकेला, मरता तो अकेला। इसी प्रकार जितने भी सुख दुख इसे प्राप्त होते हैं उन्हें यह अकेला ही भोगता है। जो पुरुष अपने आप को इस संसार-वन में अकेला अनुभव करता है और इस प्रकार अकेला अनुभव करता है कि परजीवसे निरपेक्ष होकर, परजीवोंमें राग मोह से आसक्त न होकर अपने आपमें केवल अपने स्वरूपको निहारे, ऐसा अकेलापन जो जीव निरखता है उस जीवका ही कल्याण हो सकता है। आज गृहस्थावस्थामें इतने परिजनोंका समागम है, यह समागम तब सफल है जब हम अपने धर्मके लिए उत्साह जगायें और जो कुटुम्बमें परिजन हैं वे भी धर्ममें लगें, इस प्रकारकी प्रेरणासे घरका वातावरण धार्मिक बन सकता है तो यह

गृहस्थी का समागम सफल है और यदि मोह राग विवाद द्वेष विरोधमें ही यह जीवन गया तो जीवन पाना निष्फल है। हमारा सबका यह कर्तव्य है कि अपनेको एकाकी समझकर क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, विरोध, ईर्ष्या इन सब भावोंसे अपनेको दूर करें, धर्मभावोंमें अपना आदर बढ़ायें और जिस प्रकार हम अपने आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव कर सकें उसी प्रकारका यत्न करें, रत्नत्रयकी साधनासे ही यह मनुष्य-जीवन सफल है।

मित्रपुत्रकलत्रादि कृते कर्म करोत्ययम्।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम् ॥१३७॥

मोहकर्मका कुफल—यह जीव मित्र पुत्र स्त्री आदिके निमित्त, जो कुछ भी कर्म करता है उसके फलको नरकादिक गतियोंमें जन्म लेकर यह अकेला ही भोगता है। नरकगतिमें जन्म लेनेपर यदि कुछ थोड़ा ज्ञानकी वृत्तिमें चलते हैं तो भी जब समझते हैं कि जिन परिवार मित्रजनोंके लिए अनेक पापकर्म किये थे वे सब बिछुड़ गए। उनमें से कोई भी साथी नहीं हो रहा। यह सब मैं ही अपने दुष्कर्मोंको अकेला ही भोग रहा हू। कदाचित् कोई कुटुम्बका जीव इस ही बिलमें उत्पन्न हो जाय तो वहा परस्पर एक दूसरेको देखकर ऐसा ही ज्ञान बनायेंगे जिससे परस्परमें लड़ाई विवाद बने। जैसे मानें बच्चेकी आखोंमें अंजन ही लगाया था लेकिन बच्चेका जीव नरकमें उत्पन्न होकर नरकमें उत्पन्न हुए माँ के जीवके प्रति ऐसा सोचेगा कि इसने मेरी आखें फोड़नेका यत्न किया था। उपकारकी भी बात अपकारके रूपमें वहा सोची जाती है।

भोगोंका दुष्परिणाम—भैया! यह सब मोह करना बहुत सस्ता लग रहा है। ये भोग विषय इस जीवको बड़े आसान जच रहे हैं क्योंकि उदय है कुछ पुण्यका, अनुकूल साधन मिले हुए हैं, लौकिक दृष्टिका अधिकार भी बना हुआ है, सब यह आसान लगता है, किन्तु इन सब विषय कषायोंका मोह भावोंका फल अति कटुक होता है। ऐसे ही नरकादिक गतियोंमें जन्म लेकर उस समस्त फलको भोगना पड़ता है।

नरकरचना—ये नरक किस प्रकारके बने हुए हैं, इसके लिए ऐसा सोचो कि जैसे कोई मोटे काठके खण्डमें जो कि मान लो २ फिट लम्बा चौड़ा है उसके भीतर ही चार छः अगुल नीचे कई जगह छिद्र हों, जिन छिद्रोंका पता उस काठके किसी ओरसे न पड़ सके, ऊपरसे देखो तो छिद्र न मालूम पड़े, किन्तु भीतर ही छिद्र हो, फिर चार छः अगुल बीचमें छिद्र हो, यों छोड़-छोड़कर बीचमें छिद्र हों, ऐसे ही जानो यह पहिली पृथ्वी जितनी मोटी है उसमेंसे ऊपरके दो खण्ड तो देवके स्थानमें निकल गए, नीचे के खण्डकी पृथ्वीमें ऐसे १३ जगह नीचे नीचे चलकर वैसे बिल बने

हुए हैं जिनका मुख पृथ्वीके किसी ओर नहीं हैं। वे विल बहुत लम्बे चौड़े हैं, लाखों करोड़ों अरबों कोसोंके लम्बे चौड़े हैं, इस कारण वे विलसे नहीं जँचते, लेकिन जिनका कहीं मुँह न हो, पृथ्वीके ऊपर स्थान न हो, पृथ्वीके भीतर ही स्थान हो वह तो विल ही है, ऐसी पहिले नरकमें १३ जगह रचनाएँ हैं। इसके नीचे कुछ कम एक राजू आकाश छोड़कर दूसरी पृथ्वी है। दूसरी पृथ्वीमें ११ जगह ऐसी रचनाएँ हैं, इस प्रकार दो दो पटल कम कम होते होते ७ वीं पृथ्वीमें केवल एक ही जगह रचना है और वहां केवल ५ विल हैं, एक बीचमें और एक-एक चार दिशाओंमें।

नरकोमे क्लेश—उन नरकोंमें यह जीव विलके ऊपरी हिस्सेसे अपने आप उत्पन्न होकर नीचे गिरता है वही उनके उत्पन्न होनेकी योनि है। औंधे मुँह नीचे गिरता है, कई बार उछलता है और जब थमता है तो चारों ओरसे नारकी जीव उस पर टूट पड़ते हैं और यह भी उन पर टूटता है। नारकोंसे नारकी परस्पर लड़ते हैं। जैसे कि कुत्ता अन्य कुत्तेको देखकर लड़ने की बात दिमागमें ठानते हैं, यों नरकके नारकियोंको मारनेके लिए, दुःख देनेके लिए अनेक नारक जीव दाव लगाये बैठे रहते हैं जो आपसमें एक दूसरेका घात करते रहते हैं। ऐसी बड़ी दुःखद परिस्थितिमें यह जीव जन्म ले लेता है। वहा यह जीव सब अपने दुष्कर्मोंका फल अकेला ही भोगता है। यहा भी सभी जीव अपनी-अपनी कल्पनाएँ बनाकर अकेले ही दुःख भोगा करते हैं।

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम्।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दयां व्यसनावलीम् ॥१३८॥

विपदामें साथीका अभाव—इस जीवके सहायक हो तो जाते हैं यहां, पर वे केवल धन आदिक भोगोंको भोगनेके लिए ही सहायक होते हैं, परन्तु अपने कर्मोंसे उपार्जित किए हुए इन निर्दय दुःखोंके समूहको सहनेके लिए कोई साथी नहीं होता। जैसे कि लोकमें कहते हैं कि सुखमें अनेक साथी होते हैं, दुःखमें कोई साथी नहीं होता है। यह बात सब जीवों की है। माता भी पुत्रके सुखमें साथी है, उसके दुःखमें साथी नहीं है। हालाकि यह देखा जाता है कि पुत्रके कष्टमें माता बड़ी विह्वल होती है, उसके दुःखका निवारण करती है लेकिन वहाँ भी यह देखो कि मा केवल अपने कषायोंके अनुकूल भाव बनाकर जिससे वह सुखी रह सके वैसा ही यत्न करती है, पुत्रके दुःखको रंच भी बाट नहीं सकती है और इस पद्धति से कोई किसीके सुखमें भी साथी नहीं है पर लोकव्यवहारमें जैसे कि लोग सम्मिलित हो जाते हैं सुखमें, यों कोई दुःखमें सम्मिलित नहीं होते हैं। तब यों प्रसिद्ध हो गया कि सुखमें सब साथी हैं दुःखमें कोई नहीं।

परसे घृणा न करके उसके ज्ञाता द्रष्टा रहनेका अनुरोध— सम्पदाके सब साथी हैं, विपदाका कोई साथी नहीं है। यह जीव दु:खको अकेला ही भोगता है यह बात नि:सन्दिग्ध है, तथापि यह दुनियाका चरित्र घृणा करनेके योग्य नहीं है, किन्तु इसके ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिये। कोई जीव भी मेरे क्लेशका साथी नहीं होता, ऐसा सोचकर किसी जीवसे जुगुप्सा नहीं करना है। ये बडे खराब लोग हैं, ये मेरे साथी नहीं हो रहे हैं, ऐसी घृणात्मक दृष्टि नहीं बनाना है किन्तु उस स्वरूपका आदर करना है जो स्वरूप यह बतलाता है कि कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपसे प्रदेशोंसे बाहर कुछ काम कर ही नहीं सकता।

एकत्वभावनाकी दिशा—कोई जीव किसी भी पर-परिणमनका साथी न होगा, ऐसे कथनमें हमें वस्तुस्वरूपका शुद्ध दर्शन करना है, किन्तु किसी जीवसे घृणा नहीं करनी है। अगर ऐसा सोचकर कि कोई भी जीव मेरे दु:खमें साथी नहीं हो रहे घृणा करने लगें दूसरे जीवोंसे तो क्या यह मैं दूसरोंके द्वारा घृणाके योग्य न होऊँगा? जब मैं दूसरोंको खुदगर्ज देखकर उनसे घृणा करूँ तो इसका अर्थ है कि सभी लोग मुझे भी देखकर मुझसे घृणा करने लगें। घृणाकी बात ग्राह्य नहीं है किन्तु एक स्वरूपका बोध कर लो। स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ अपने परिणमनको छोड़कर अन्यका परिणमन नहीं करता अथवा अपना भी परिणमन करे और अन्यका भी परिणमन करे ऐसा भी नहीं होता। सब जीव सब पदार्थ अपने आपका परिणमन करनेमें रत हैं, ऐसा निरखो और अपने आपको भी ऐसा देखो। अपना ही परिणमन करनेमें सब समर्थ हैं, इस दृष्टिमें ही वास्तवमें एकत्व भावना आ पाती है।

एकत्वभावनामें उपादेय तत्त्व—यह मैं आत्मा अकेला हूं ऐसी एकत्व भावनामें यह जीव आनन्दधाम निज अतस्तत्त्वको प्राप्त होता है। भावनाओंके स्वरूपको समझने के लिए दु:खमें कोई साथी नहीं है, ऐसा कहा जाता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दु:ख भोगता है। इस जीवका कभी भी कोई सगा साथी नहीं है ऐसा एक सुगम वैराग्यके लिए कहा है। एकत्व भावनामें यही तो सुविदित होता है कि यह जीव मात्र अपने प्रदेशोंमें अपने आपका परिणमन करता है, चाहे वह मोक्ष-परिणमनवा परिणमन हो, अनन्तज्ञानका, अनन्त सुखका परिणमन हो और चाहे संसारका दु:खरूप परिणमन हो, प्रत्येक परिणमन प्रत्येक जीवमें प्रत्येक पदार्थमें स्वयंके ही साधनसे स्वयंके ही आधारमें हुआ करता है, फिर कोई अगर मेरे दु:खमें साथी नहीं है तो नाराज होनेकी क्या बात है, जैसा स्वरूप है ऐसा उसे जानो।

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः।
यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते ॥१३६॥

एकाकित्वका समर्थन—यह जड़ जीव, यह व्यामोही प्राणी संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित हुआ अपनी एकताको क्यों नहीं देखता है? जन्ममरणके प्राप्त होनेपर सब ही जीव यों दिखाई पड़ते हैं, सभी मनुष्य प्राय. अपनी आंखोंसे देखते रहते हैं कि यह जन्मा तो यह भी अकेला ही जन्मा। यह मरा तो यह भी अकेला ही मरा। उनके जन्म मरणमें कोई साथी है क्या? किसीके दो बच्चे भी एक साथ पैदा हों, जिसे कहते हैं जुड़वां, तो दो बच्चे पैदा हो गए एक साथ, इस पर भी वे साथ नहीं जन्मे किन्तु अपना अपना अलग-अलग जन्म लिया। यों ही किसी प्रसगमें ५० आदमी एक साथ मर जाते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं है कि देखो सभी एक साथ मरे हैं। अरे मरनेमें भी कोई साथ नहीं निभाता है। मर गए सब अपनी अपनी आयुका क्षय होनेपर, चाहे एक ही मिनटमें वे पचासों मरे हैं पर मरे सभी अकेले-अकेले ही हैं। कोई किसीका साथ निभाकर नहीं मरा। तो जो बात आँखों देख रहे हैं, प्रत्यक्षमें समझ रहे हैं उस बात पर विश्वास क्यों नहीं रखते?

सर्वपरिणतियोंमें जीवके एकाकित्वका दर्शन—प्रत्येक स्थितिमें यह जीव अकेला है और सर्वप्रकारसे अकेला है। जब इसने संसारभाव किया, रागभाव किया और उस रागभावके कारण जो क्लेश क्षोभ अनुभूत हुआ वह सब परिणमन भी अर्थात् यह उपरोक्त परिणमन इस उपराग करते हुए जीवने स्वतन्त्र होकर किया। भले ही इस रागके उत्पन्न होनेमें पर-उपाधि निमित्त है, पर उपाधिभूत निमित्तकी परिणति लेकर तो यह जीव रागरूप नहीं परिणमा। यह मात्र अपने ही परिणमनसे रागरूप परिणमा और रागरूप परिणमकर अपने आपको ही रागरूप बनाया। अपने ही परिणमनसे रागरूप बना, अपने ही लिए रागरूप बना, अपनेमें बना। सर्व तरफसे इस जीवमें एकता तो बनी हुई है।

स्वरूपस्वातन्त्र्यके विवेकमें लाभ—अहो खेदकी बात है कि इस अज्ञान पिशाचसे प्रेरे हुए ये संसारी प्राणी अपनी एकताको नहीं निरखते। जब भेदविज्ञान जग जाय तो उस विवेकके कालमें भी इस जीवने जो कुछ स्वच्छ परिणमन किया, ज्ञानरूप परिणमन किया वह भी स्वतन्त्र होकर किया। अपने ही साधनसे, अपने ही प्रयोजनमें, अपने ही आधारमें, अपने ही आपको इस प्रकार परिणत कर लिया। यह जीव सर्वस्थितियोंमे एकाकी है, इसका कोई सहाय नहीं है, साथी नहीं है। इस एकत्वस्वरूपके आदर करनेसे मोह पिशाच दूर भाग जाता है, अज्ञान अंधकार समाप्त

हो जाता है और उस ज्ञानानुभूतिके प्रसादसे स्वाधीन आनन्द जागृत होता है। अतः हे आत्मन्! अपने आपको शान्तिके मार्गमें ले जाना चाहते हो तो प्रथम कदम यह ही है कि अपने आपको अकेला तो समझलो। है यह अकेला, इस कारण अकेला समझो।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥१४०॥

अविदितस्वरूपताका फल—जिसने अपना स्वरूप जाना है, जिसके ज्ञाननेत्र लुप्त हो गए हैं, ऐसा यह जीव इन कर्मोंसे ठगा जाकर अकेला ही निरन्तर इस ससारमें परिभ्रमण करता है। अपने आपके इस अकेलेपनको न निरखनेसे ये सारी विपदायें अपने पर लग गयी हैं। मैं दूसरेका कुछ कर सकता हू, ऐसा मिथ्या आशय भी एकत्व भावनाको लुप्त कर देता है। मैं किसीका कुछ कर सकता हू, ऐसा आशय रखने वालेने अपना एकत्व जाना कहाँ? यदि यह आत्मा अपने एकत्वको जानता होता तो कर्तृत्वका आशय न कर सकता था। प्रायः करके सभी संसारी जीव बुद्धिके दोषसे ही ससारमें परिभ्रमण कर रहे हैं। क्या है स्वयमें, यथार्थ बात विदित होनी चाहिए।

परको प्रसन्न करनेकी आवश्यकता—भैया! दुनियाके कथन पर दृष्टि डालें तो हम कहाँ तक अपना लक्ष्य पूरा कर सकते हैं? किसी भी जीव पर सभी जीव कभी खुश नहीं हो सकते, किसी जगह हो। भले ही परिजनों में से अधिकाश लोग उसके अनुकूल हों, पर ऐसा कोई व्यक्ति न मिलेगा जिस व्यक्तिके अनुकूल सभी पुरुष हों। आजकलके नेताओंके प्रति निहार लो। अन्य बात तो जाने दो, जो प्रभु हैं, सर्वज्ञ हैं, निर्दोष हैं उनके प्रति भी सब लोगोंका सन्मान भाव नहीं जगता, सब अच्छा तो कहते ही नहीं। कितने ही लोग तो स्पष्ट कहने लगते कि देखो भगवानने इसे मार डाला। तो जब भगवान तकके भी ये सब जीव अनुकूल नहीं हुए तो क्षुद्र जन्म लेने वाले जीव ये कोशिश करें कि मुझपर सब जीव प्रसन्न हो जायें, सब मनुष्य मुझे समझने लगें, ऐसी बुद्धि हो तो वह बुद्धि नियमसे अनर्थ ही करने वाली है।

भोक्तृत्वबुद्धिकी अनर्थकारिता—यह भोक्तृत्वबुद्धि भी अनर्थकारिणी है। मैं अमुकको भोगता हू, कपड़ा चारपाई वैभवको मैं भोगता हू, ऐसी बुद्धिमें भी क्लेश पड़ा हुआ है क्योंकि उपयोग तो अज्ञानकी ओर वह रहा है। यह मैं केवल अपने आपमें जो वितर्क उत्पन्न हुए उन वितर्कोंके कारण जो स्थिति होनी चाहिए सुखकी, दुःखकी, आनन्दकी, मैं केवल अपने आनन्दगुणके परिणमनको ही भोगता हू। जहाँ ऐसी एकत्व दृष्टि

नहीं रहती और परकी ओर आकर्षण रहता है उस जीवका टिकाव कहीं नहीं हो सकता। जिस पदार्थमें अपना टिकाव लगाया वह पदार्थ ही टिकाऊ नहीं है और फिर उस पर किया हुआ उपयोग भी टिकाऊ नहीं है इसी कारण परके आलम्बनमें भी आनन्द नही प्राप्त होता।

स्वरूपके परिचय व अपरिचयका फल—जो पुरुष निजस्वरूपको जानले और जानकर उस ही तत्त्वभूत स्वरूपका ज्ञान बनाये रहे तो ऐसे ही अन्त' आचरणके कारण यह जीव शान्त हो सकता है, संसारके संकटोंको दूर कर सकता है। लेकिन ऐसा न करके यह जीव कर्मोंसे ठगाया हुआ, राग-द्वेष मोहसे ठगाया हुआ होकर इस ससारमें निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है। कोई परिभ्रमणकी हद है क्या कि किस दिनसे किस क्षणसे परिभ्रमण हो रहा है? यदि कोई दिन क्षण नियत करदे तो इसका अर्थ यह है कि इसके पहिले मैं संसारी न था, विभाववान न था। संसारी न था तो किसी भी प्रकार ये विभाव आ ही नहीं सकते थे।

द्रव्यकर्म व भावकर्मका अनादि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—कर्मका व भाव का अनादिसे ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है, क्या बताया गया था, पहिले कर्म था पहिले या जीवका भाव था पहिले? कैसी विचित्र अनादि सतति है? चूँकि भाव हुए बिना कर्म नहीं होते अतएव भाव पहिले थे और कर्म बादमें किया और बढ़ जावो, कर्मोंके उदयके बिना ये भाव नहीं हुआ करते, अतएव कर्म पहिले थे फिर उसके उदयमें भाव हुए। वे कर्म भाव कर्मपूर्वक हुए। वे भाव भी द्रव्यकर्मपूर्वक हुए। यों अनादिसे ही यह चक्र लगा आ रहा है। तब इसमें हमें कोई समाधान नहीं हो सकता कि पहिले भाव थे या कर्म थे। उसका ही अर्थ यह हुआ कि यह सब अनादिसे चला आ रहा है। जैसे मनुष्यके पिता, ये अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं। कोई पिता ऐसा नहीं है कि जो पिताके बिना ही उत्पन्न हो गया हो।

सकटमोचिनी भावना—विधिसे ठगाया जाकर कर्मोंसे बद्ध होकर यह जीव इस संसारमें अकेला ही अज्ञानी मोही विषयासक्त बन बनकर यह जीव भ्रमण करता चला आ रहा है। उस समस्त भ्रमण सकटसे छुटकारा पानेका सुगम उपाय है यह एकत्वभावना। अपने आपको अकेला सोच ला, सारे झझट लो समाप्त हो गए। यों एकत्वभावनाके प्रसादसे यह जीव मोक्षमार्गमें बढता है और शान्तिका अधिकारी होता है। हम आप भी अपनेको अकेला ही सोच लेंगे तो इस चिन्तवनसे अनेक सकट दूर हो जावेंगे।

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः।
तदा स्व स्वेन बध्नाति तद्विपक्षैः शिवी भवेत् ॥१४१॥

बन्धनका मुख्य हेतु—जब यह जीव मोहवश होकर चेतन अथवा अचेतन पदार्थोंसे अपनी एकता मानता है उस समय यह जीव अपने ही द्वारा अपने आपको बाधता है। जीवका बन्धन परवस्तुमे स्नेह पहुचना है, परवस्तुमें मोह होना एतावनमात्र बन्धन है। जीव अमूर्तिक है, इसमें रूप रस गध स्पर्श नहीं हैं। यह पुद्गलकी भांति अथवा जैसे रस्सी आदिक एक दूसरे से बँध जाती हैं इस तरह यह जीव किसी पदार्थसे बँध जाता हो ऐसा तो शक्य है नहीं, किन्तु यह जीव स्वय परवस्तुमें राग अथवा मोह करके अपनी ही कल्पनाओंसे अपने ही आपको परतत्र बना लेता है। जैसे यहाँ परिवारमें आप स्त्रीसे बच्चोंसे किसीसे बँधते तो हैं नहीं, जैसे कोई एक मूर्त पदार्थ दूसरे मूर्त पदार्थसे स्वय बँध जाता है, रस्सी रस्सीमें बँध जाय ऐसा कुछ बन्धन तो आपका है नहीं, वह जीव जुदा है, आप जुदे हैं। उनका सुख दुःख न्यारा है, आपका सुख दु ख अलग है। आपकी कल्पनाएँ आपमें होती हैं, उनकी कल्पनाएँ उनमें होती हैं, कोई सम्बन्ध नहीं है फिर बन्धन क्या ? जो जीव अपने आपकी कल्पनाओंमें उन कुटुम्बी, जनोंसे एकताको मानता है, यह मेरा है, यह ही तो मैं हू, इसमें मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरा हित है, ऐसी कल्पनाएँ करके कोई एकता माने उसही का नाम बन्धन है, क्योंकि इन कल्पनाओंमें यह जीव अपनी ओरसे अपने आप परतत्र हो गया है।

मोहके बन्धनपर एक दृष्टान्त—एक घटना है—एक गृहस्थ घर छोड कर व्यापारके लिए बहुत दूर चला गया। वहाँ उसे १४ वर्ष व्यतीत हो गए। वह एक वर्षका बालक घर छोड़कर गया था। अब माँ कहती है बेटा तुम १५ सालके हो गए, समझदार हो, जावो अपने पिताजी को अमुक शहरसे अमुक जगहसे लिवा लावो। वह चला अपने पिताको लिवाने। उधरसे वह उस लड़केका पिता भी अपने घरके लिए चला। दोनों ही रास्तेमें एक शहरकी धर्मशालामें पास-पासके कमरेमें ठहर गए। दोनों ही एक दूसरेको नहीं पहिचानते। रातको उस लड़केके पेटमें बड़ा दर्द उत्पन्न हुआ। वह खूब चिल्लाये। उसकी चिल्लाहटसे उस पुरुषको नींद न आए, सो चपरासीसे कहा कि इस लड़केको धर्मशालासे बाहर कर दो, हमें नींद नहीं आती। चपरासी बोला रात्रिके १२ बज गए हैं, कहा इसे भेज दें। आखिर उसका दर्द बढ गया और उस लड़केका हार्ट भी वहीं पर फैल हो गया, मर गया। यद्यपि उस पुरुषके पास पेट दर्दकी दवा थी, पर वह उस लड़केको दे नहीं सका। जब घर जाता है तो स्त्रीसे पूछता है कि लडका कहाँ है ? तो स्त्री कहती है कि लड़का तो तुम्हें ही लिवाने गया है। वह चला लड़के की खोजमें। पता लगाते लगाते उस धर्मशालामें भी पहुंचा जहाँ दोनों ठहरे थे। मनेजरसे पूछने पर उस पुरुषने जाना कि

ओह वह मेरा ही पुत्र था जो मेरी आँखोंके सामने मरा था। वह पुरुष मूर्छित होकर गिर पड़ा। देखो मोहकी बात कि जब पुत्र सामने मरा तब एक भी आँसू न गिरा और जब सामने नहीं है तो बेहोश होकर गिर पड़ा। तो किसी को दु ख देने वाला कोई दूसरा नहीं होता। जहाँ खुदका ही ज्ञान उल्टा चलता है वहाँ दु:ख हो जाता है।

सुख दु:खके प्रसगमे ज्ञानलीलाका प्रभाव—भैया! कितने ही उपद्रव आ रहे हों, पर अपना ज्ञान यदि सही है तो वे सारे उपद्रव दूर हो जाते हैं। और चाहे कोई पुरुष कितने ही सुखके वातावरणमें हो, धनिक भी है, महल भी अच्छे बने हैं, कुटुम्ब भी योग्य है, आरामसे रहता है, लेकिन कल्पनाएँ उठायीं कि अभी मेरे पास क्या धन है? क्या ठाठ है, यह तो कुछ भी नहीं है। अमुक देखो कितना महान् है, अथवा मेरी इज्जत, मेरा नाम अभी देश भरमे कहाँ हुआ है, कहा सुख है, चिन्ताएँ करे, तृष्णा बढ़ाये तो इतने बडे अच्छे साधनोंमें रहकर भी वह दु:खी हो गया। कौन दु खी करने वाला है?

ज्ञानकी सभालमे दु:खसे छुटकारा—जिसके बाह्यसमागम संपदा कुछ भी नहीं है, खानेका भी साधन नहीं है, किसी प्रकार मांगकर खाये, गुजारा करे लेकिन ज्ञान यदि सही है, वस्तुके शुद्धस्वरूपको समझता है तो वह पुरुष ज्ञानके बलसे ऐसी गरीब स्थितिमें भी प्रसन्न है, सुखी है। बड़े-बड़े समागम वाले परपदार्थोंमें आत्मीयता एकता माननेसे दु खी है। हमारा दु ख कोई दूसरा मेटने न आ जायेगा। किसी अन्यमें सामर्थ्य नहीं है कि मेरा दु ख दूर कर जाय। लोग अपना दु:ख दूर करने के लिए दूसरोंसे प्रार्थना करते हैं, इच्छा करते हैं, सेवाएँ करते हैं, आशा रखते है, लेकिन कितने ही अन्य उपाय कर लें, दु:ख दूर न होंगे। अथवा किसी उपायसे कुछ दु:खका शमन हो गया तो उससे क्या सिद्धि है? थोड़ी देर बाद और तरहका दु ख उखड़ पडेगा। दु:ख मूलसे नष्ट हो, इसका उपाय खुदको ही करना होगा और वह उपाय भी केवलज्ञानसे सम्बद्ध होगा। अन्य पदार्थोंकी संभालसे दु:ख दूर नहीं हो सकते।

स्वयंकी सभालसे दु:खके अभाव होनेका कारण—अपनी ही संभालसे अपना दु:ख दूर होगा, इसका कारण यह है कि यह जीव अकेला है। जीव ही क्या, प्रत्येक सत् अकेला हुआ करता है। सत्का स्वरूप ही यह है कि जो केवल स्वमात्र रहे उसही का नाम सत् है। ऐसी अपने विशुद्ध अकेलेपनकी भावना हो तो बन्धनसे छूटता है और परपदार्थोंमें अपनी एकताका बन्धन हो तो वह बँधता है। बन्धन ही दु ख है और मुक्ति ही सुख है। जिन्हें बन्धनके दु खसे बचना हो उनका कर्तव्य है कि वे अपने

निषेधस्वरूपमात्र अपने अन्तस्तत्त्वका श्रद्धान करें, यहा ही ज्ञान लगायें और उस रूप ही आचरण करें, हम कुछ भी करें, जो भी बन्धनमें आये आने दो। ज्ञानका स्वरूप है यह कि सब कुछ ज्ञानमें आ गया, लेकिन रागद्वेष न करें, मोह न करें, यह आपके हाथकी बात है।

स्वभावकी उपासना—भैया ! सब स्वतंत्र स्वतन्त्र पदार्थ हैं, पड़े हैं, दिख रहे हैं क्या आप अपना यह ज्ञान नहीं बना सकते कि ये पदार्थ इस क्षेत्रसे भी न्यारे हैं, पिंडसे भी अलग हैं। मेरा परिणमन मुझमें ही है। किसी भी अन्यसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी जानकारी क्या आप बना नहीं सकते ? बना तो सकते हैं, पर न बनाय, आलस्य करें, मोक्ष मार्गमें अनुराग न करें तो यह एक व्यक्तिगत निजकी बात है जो न कुछ सी है। व्यर्थ क्यों परपदार्थमें मोह और रागकी निरन्तर कल्पनाएँ किया करते हैं। एक ही निर्णय रखिये— जो इन परपदार्थोंमें ममता मोह आत्मीयता, एकता करेगा वह अपने को अपनेसे बाँध लेता है और उसके विरुद्ध अर्थात् स्वभावके अनुकूल अपना ज्ञान आचरण और श्रद्धान करे तो वह छूट जाता है।

एकाकित्व प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रम ।
तदैव जन्मसम्बन्ध स्वयमेव विशीर्यते ॥१४२॥

एकत्वकी उपासनासे जन्मसम्बन्धका निवारण—जिस समय यह जीव भ्रमरहित होकर ऐसा चिन्तन करता है कि मैं तो अकेला हूं, मेरा यह चैतन्यस्वरूप स्वतन्त्र है, ऐसी एकताको प्राप्त होता हुआ अपनेमें न माने कि अन्य कुछ भी मेरा है और दृढ निर्णय रखे कि मेरा मात्र मैं ही हूं, मेरा जिम्मेदार मैं हू, मेरी करतूतके अनुसार ही मुझे फल मिलता है और वह फल करतूतके साथ ही साथ तुरन्त मिल जाता है। जैसा परिणाम किया वैसा सुख अथवा दु ख अथवा आनन्द तत्काल ही मेरे साथ लगा हुआ है, मैं उपाधिरहित अपने सत्त्वके कारण अपने स्वरूपमात्र हू, ऐसे एकत्व को मैं प्राप्त हुआ हू, ऐसी बात जब इस जीवके बनती है तब ही जन्मका सम्बन्ध स्वयमेव ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि संसारका सम्बन्ध तो मोहसे है। यदि मोह दूर हो गया तो आप तो एक थे ही, अकेले थे ही। वही रह गए, फिर मोक्ष क्यों न होगा ?

अपनी परिणतिपर अपने भविष्यकी निर्भरता—हम कैसे बनें, हमारा भविष्य कैसे सुधरे अथवा बिगड़े, कैसे बनेगा भविष्य, यह सब कुछ हमारे परिणामों पर आधारित है। यह बात यथार्थ है। जो लोग ऐसा भी मानते हों कि हमको ईश्वर सुख अथवा दु ख देता है तो जब उनसे यह प्रश्न करो कि सुख दु ख जब प्रभु देता है तो इस जीवको वह सुख ही सुख क्यों नहीं

देता, दुःख क्यों देता है ? तब वहाँ यह कहना पड़ता है कि यह जीव जैसे कर्म करता है उस कर्मके अनुसार प्रभु सुख अथवा दुःख देता है। तब इस में भी तथ्य तो यही निकला कि चाहे किसी प्रकार हमको सुख अथवा दुःख मिले, पर हम जैसी करनी करते हैं उसके अनुसार हमे सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है। ससार विडम्बनामे भी मैं अकेला ही बन्धनमें पड़ा हू और जब यथार्थस्वरूप जानकर इन विडम्बनाओंसे मुक्त होऊंगा तब भी यह मैं अकेला ही मुक्त होऊँगा। संसारकी इन प्रवृत्तियोंमें भी यह जीव सर्वत्र अकेला ही है। सुख भोगे तो अकेला, दुःख भोगे तो अकेला। मोह करे किसीसे तो यह अकेला ही तो करता है। उस परिणतिको दूसरा नहीं करता।

व्यवहारकी असारताका निर्णय– भैया ! बहुत राग हो किसीसे तो यह न समझिये कि उसका राग मुझमें हुआ है। यह समझिये कि मेरे प्रदेशोंमें मेरा राग परिणमन है और वह भी मुझसे राग करता है तो उसका राग परिणमन उसके प्रदेशोंमें है। सर्व जीव स्वयं अपने आपमें अपने आपका परिणमन किया करते हैं। कोई किसीका साथी नहीं है। कषायसे कषाय मिल गयी, कषायसे कषाय मिल गई तो मित्रता हो गयी, कषायसे कषाय न मिली तो शत्रुता हो गई। इस शत्रुता मित्रताका कोई ठेका नहीं है कि कब तक रहे ? आज जो शत्रु है कहो कल मित्र बन जाय और जो आज मित्र है कहो कल शत्रु बन जाय। तो यह सब जगत विलक्षण है। यहाँ रमने योग्य कुछ नहीं है। जब एक स्वरूप स्वभावको निरखें, उसमें ही परिणमन करें, उस ही घरमें निवास करें, अपने ही ब्रह्मस्वरूपमे मग्न होवे तो यह [illegible] है, इसके सिवाय अन्य जगह का भटकना यह कुछ भी शरण नहीं है। जब यह जीव भ्रमरहित होकर अपने इस कैवल्यस्वरूपको प्राप्त करता है बस उस ही समयसे जन्ममरण का सम्बन्ध नष्ट होने लगता है और जन्ममरणसे रहित हो जाता है। समस्त व्याधियों और चिन्तावोंकी जड़ यह शरीर है। इस शरीरसे भी रहित होकर यह जीव शाश्वत आनन्दमय वर्तता रहता है। हमारे कल्याण की प्राप्ति इस एकत्व भावनासे होती है।

एकत्वकी उपादेयताका निर्णय--भैया ! एक ही निश्चय करलो, हम आप सबको संकटोंसे मिटानेमें समर्थ यह एकत्व भावना है अर्थात् अपने आपका विशुद्ध अकेलापन है। शरीरसे भी रहित और रागद्वेष आदिकसे भी रहित केवल चैतन्यप्रकाशमात्र जहाँ मात्र जाननहार स्थिति है ऐसा विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र मैं हूं, ऐसा केवल अपनेको विचारें तो यह ही आनन्दका उपाय है अन्य कुछ नहीं। अन्य बातोंमें कहाँ लगते हो ? सब

धोखामय है, मायाजाल है। जैसे स्वप्नमें देखी हुई सारी बातें झूठ हैं ऐसे ही यह दृश्यमान् सारा ससार झूठा है, असार है।

एकत्वके ग्रहणसे ससरणका विच्छेद—सीधी सी बात देख लेना, बडे बडे धनिक, बडे-बडे यशस्वी, बडे-बडे नायक क्षणमात्रमें मरणको प्राप्त हुए और फिर उसके बाद यहाका उनका क्या रहा ? जहा जायेगा यह जीव वहा क्या बीतेगी ? वह बात आगेकी उनके साथ है। लेकिन यहाका सम्बन्ध तो सारा विघट जायेगा। जब यह जीव मरण करता है तब तो स्पष्ट समझमें आ जाता है कि यह अकेला ही था, अकेला ही जन्मा था, अकेला ही मर गया। लेकिन जब तक यह जीवन था तब तक यह सर्वत्र अकेला ही अकेला था। मदिरमें आकर कुछ धर्मध्यान किया तो वहा भी इस अकेले ने अकेलेमें अकेलेका काम किया। और यह जीव घरमें जाकर पुत्रादिक को खिलाता हो और बडे सुख साज वैभवको भोगता हुआ रह रहा हो वहां भी यह जीव केवल अपने में केवल अपनी ही कल्पनाओंसे अपने लिए कर रहा है। इसके आगे वहां भी यह कुछ नहीं करता है। ऐसा एकत्व, ऐसा अकेलापन दृष्टिमें आये और इसका सही रूपमें श्रद्धान बने तो उसका जन्म मरण ससारका सम्बन्ध दूर हो जायेगा।

एक' स्पर्शी भवति विबुध स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्ग,
एक श्वाभ्र पिबति कलिल छिद्यमान कृपाणै।
एक क्रोधाद्यनलकलित कर्म बन्धाति विद्वान्,
एक सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्य भुनक्ति ॥१४३॥

जीवका अकेले अकेले ससरण—यह जीव आप ही अकेला स्वर्गी बनता है, देव बनता है और उस देवगतिमें जन्म लेकर अनेक रूपवती देवागनाओं के समागममें सगममें उनको निरख निरखकर उनके मुखकमलमें भ्रमर जैसा सेवक बनकर जो कुछ वहा चेष्टा करता है वह भी अकेला ही चेष्टा करता है। और फिर यह जीव जन्म मरण करके मनुष्य अथवा पशु पक्षियोंमें जन्म लेता है तो वहा भी यह उस पर्यायके अनुकूल अपने को अकेला ही करता है। जो कुछ भी परिणमन करे अकेला ही परिणमन करता है। यों ही यह जीव जब नरकगतिमें उत्पन्न होता है तो वहा भी अन्य नारकियोंके शस्त्रों द्वारा छिद छिद कर नारकीय यातनाओंको भोगता है और दूसरे नारकी, मदिरा पूर्वभवमें जिन्होंने पिया है उन्हें तप्त लोहरस पिलाते हैं, उनको उनके ही शरीरसे जो कुछ भी निकला खून जैसा कुछ भी उसे ही कूटकर उनके ही मुखमें देते हैं। नारकोंमें ऐसे कठिन दुखोंको भी यह जीव अकेला ही भोगता है, कोई दूसरा वहा साथी नहीं है।

क्रोधमें अकेलेका परिणमन—इस भवमें भी क्रोध, मान, माया, लोभ की अग्निसे सतप्त होता हुआ यह जीव अकेला ही कर्मबन्धन करता है। जब क्रोध उमड़ता है तो उस क्रोधकी स्थितिमें जो इस पर गुजरती है, बेचैनी हो जाती है वे सब परिस्थिति इस अकेले को ही तो भोगनी पड़ती हैं। कैसा अज्ञान है? जिस पर क्रोध आता है उसका कुछ बिगाड़ हो जाय तो यह बड़ा अपनेको सुखी अनुभव करता है। जैसे मां बालकको गोदमें लेकर चल रही है, दरवाजेसे निकले और कोई किवाड़ोंका खूंट उस बालक के लग गया तो बालक रोने लगता है। उस समय मा बालकको देखकर दो तमाचे किवाड़में जड़ देती है, बालकका रोना शान्त हो जाता है। अरे बालक, उस किवाड़में दो थप्पड़ जड़ दिये तो तुममें कौन सी बात आ गयी? लेकिन इस किवाड़ने मुझे मारा था, तो मेरी मांने इसे पीट दिया, यह बात उस बालकके चित्तमें आयी इससे उसका रोना बद हो गया। यह जोव दूसरे का बिगाड़ निरख कर अपनेको बड़ा सुखमें मानता है। तीव्र कषायमें अनन्तानुबधी भावमें ऐसी ही परिणतियां होती हैं। यों ही मान कषाय है।

मान माया लोभमें अकेलेका परिणमन—जब तीव्र मानकषायका जिसके उदय होता है वह दूसरेको नहीं देख सकता। दूसरेका अपमान हो, खुदकी महत्ता बढ़े, ऐसी बात उसके मनमें आती है और उस मानकी अग्निसे जलकर यह जीव दुःखी रहता है। यों ही मायाकी अग्नि है, जिसमें जलाकर यह जीव अपने गुणोंको खाक कर देता है, बरबाद कर देता है। लोभकी आग भी कम नहीं है। तृष्णादाहमें जलभुनकर यह जीव अपने आपके सारे गुणोंको फूंक डालता है। यों कर्म बाँधा तो इस जीवने अकेले ही कर्म बाँधा। सर्वत्र यह जीव अकेला है।

एकत्वके मिलनमें धर्मका पालन—भैया! अपने अकेलेपनको सोचो तो इससे शान्तिका मार्ग मिलेगा। अपनेको किसी बाह्य विभावसे युक्त न निरखिये। इन चर्मचक्षुवोंको खोलकर बाहरके पदार्थोंका देखकर उनसे कुछ अपना महत्त्व आकने लगे तो दुःख ही दुःख मिलेगा, वहाँ आनन्दका नाम नहीं है। भाई धर्म करो। क्या धर्म करो? प्रभुपूजा करो, प्रभुस्मरण करो, आत्माका ध्यान करो। यह ही धर्म करना है। जिन्होंने धर्मका मर्म ही कभी नहीं पहिचाना है उनके प्रभुपूजामें भी धर्म नहीं हो पाता। ध्यान, जाप वगैरह करने बैठे तो वहाँ भी धर्म नहीं हो पाता। अरे धर्मपालन करो इसका सीधी तो अर्थ है। अपनेको सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूप मात्र निरखने लगो। इसही का नाम धर्मका पालन है। क्योंकि धर्मसे मुक्ति मिलती है, संसारके सकटोंसे छुटकारा मिलता है। ससारसे दद-फदों से

तो हम छूटना चाहें और संसारके दंदफंदोंसे न्यारा होनेका हम साहस न बनाये तो संकटोंसे छूट कैसे सकते हैं ? जैसे जलमें रहते हुए भी कमल जलसे न्यारा है ऐसे ही इन रागोंमें रहकर भी जीव अपना स्वरूप परिचय पाकर न्यारा ही समझे, इससे तो इस जीवका भला है, कल्याण है अन्यथा बाह्य वस्तुवोंके मोहमें तो इस जीवके आदिसे अन्त तक केवल दुःख ही मिलेगा।

विशुद्ध स्वरूपके आचरणमे कल्याण—यह जीव संसारमें जो सुख दुःख सहता है वह सब यों ही अकेला ही सहता है और जब कभी समस्त बाह्य आभ्यतर आवरण टूट जायें, इस जीवके स्वभावको ढकने वाले कर्म दूर हो जायें, यों यह समस्त ज्ञानराज्यको भी भोगता है। वहां भी अकेला ही भोगता है। अपना वास्तविक अकेलापन अपनी दृष्टिमें रहे तो जीवको शान्ति और सन्तोष हो सकता है। एकत्व भावनाके इस प्रकरणसे हम अपने आपमें एक यह शिक्षा लें कि मुझे तो अपनेको केवल अकेला निज-स्वरूपमात्र अपने सत्त्वसे जैसा हूँ तैसा ही मानना है, इसमें ही कल्याण है, अन्य उपायोंसे शान्तिका मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षण।
चिदानन्दमय शुद्धो बन्धं प्रत्येक वानपि ॥१४४॥

बद्ध दशामें भी जीवकी स्वभावशुद्धता—पदार्थका अपने आपका स्वरूप जैसा है वैसा ही निहारनेपर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ परपदार्थसे अत्यन्त न्यारा है। जैसे पानीमें मिट्टीका तेल डाल दिया जाय तो यद्यपि ये दोनों एक बर्तनमें हैं लेकिन तेलके स्वभावमें पानी प्रवेश नहीं करता, पानीके स्वभावमें तेल प्रवेश नहीं करता। अपने अपने सत्त्वको लिए जुदे जुदे पदार्थ हैं, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि आज बंधके प्रति एक बन रहा है, शरीरमें वहीं बस रहा है जहां देह है, फिर भी यह देहसे अत्यन्त न्यारा है। यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप है और यह शरीर न चित्स्वरूप है, न आनन्दरूप है। यों शरीरादिक समस्त पदार्थोंसे विल-क्षण यह मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप शुद्ध हूं, ऐसी भावना रखने वाले पुरुषके अन्यत्व भावना बनती है।

एकत्व व अन्यत्व भावनाका लक्ष्य—इस प्रसंगसे पहिले एकत्व भावना कही थी कि मैं अपने आपमें एक हू, अकेला हू। सब स्थितियोंमें, सुख पाता हू तो अकेला, दुःख पाता हू तो अकेला, जन्म लूं मरण करूं तो अकेला, संसारमें रुलूं, संसारसे छूटूं तो अकेला, सर्व स्थितियोंमें यह अकेला ही अपने आपका अनुभव करने वाला होता है। यहाँ यह अन्यत्व भावना चल रही है। यह मैं अकेला सर्वपदार्थोंसे न्यारा हू। जहां शरीर भी अपना नहीं है वहां अपना और दूसरा कौन हो सकता है ? घर

सम्पदा परिजन— ये तो प्रकट पराये हैं। दोनो भावनाओंमें इस लक्ष्यपर दृष्टि दिलाई गई है कि आत्माका शरण केवल अपने आप है। अपना शुद्ध आचरण है तो यह सुख पायेगा, अपना अशुद्ध आचरण है तो यह क्लेश पायेगा। भले ही कुछ पुण्यका उदय हो और अशुद्ध आचरण ढक जाय, लेकिन यह गाडी कहा तक चलेगी ?

पुण्य पापका फल—समारके जीव पुण्य और पापके अनुसार ही खोटा और बुरा फल भोगा करते हैं। जब जीवके पुण्यका उदय होता है तो सासारिक सुखोंके साधन पता नहीं कैसे किस उपायसे एकत्रित हो जाते हैं और जब पापका उदय होता है तो पता नहीं, विपदावोंके साधन किस किस उपायसे कैसे बन जाया करते हैं ? एक बहुत प्रसिद्ध दृष्टान्त है—

यदा लक्ष्मी समायाति नारिकेलफलाम्बुवत्।
यदा विनश्यते लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत्॥

जब लक्ष्मी आती है तो नारियलके फलमें पानी जैसे कहांसे आ जाता है ? नारियलका छिलका अत्यन्त कठोर है, उसमें सूई भी प्रवेश नहीं कर सकती, किन्तु सेरों पानी उसमें कहासे आ जाया करता है ? इसी प्रकार जब जीवके पुण्यका उदय है तो लक्ष्मी जिन किन्हीं भी उपायोंसे आ जाती है और जब विनष्ट होती है लक्ष्मी, पापका उदय आता है तो आप बतलावो हाथी कैथ खा लेता है और एक दो दिन बाद जब लीद करता है तो वह कैथ बिल्कुल हलका हो जाता है, उसमें न कहीं छेद हुआ, न कहीं दरार, किन्तु साराका सारा रस कैसे निकल जाता है ? कहा चला जाता है ? कहां खिचकर बाहर हो जाता है, ऐसे ही ये साधन पापके उदय मे कैसे विलीन हो जाते हैं, इसको कोई नहीं जानता।

पुण्य पाप दोनोसे आत्मकल्याणका अभाव—ये ससारके ठाठ पुण्य और पापके खेल हैं, लेकिन श्रद्धा यह बनानी चाहिए कि न तो पुण्यसे मेरे आत्माका भला है और न पापसे मेरे आत्माका भला है। पापसे तो भला है ही नहीं, सारा जग कहता है किन्तु पुण्यसे भी क्या भला होगा ? पुण्य बँधा तो सम्पदा मिली, अनाप सनाप भाव बने, मान जगा, कषाय जगी, आत्मदृष्टिका अवसर न मिला तो उन कषायप्रवृत्तियोंमें रह रहकर दुर्गति जाना पड़ेगा। पुण्यसे काहेका भला, पापसे तो भला है ही नहीं। आत्मा का भला तो धर्मसे है। तीना बातें जुदी-जुदी हैं—पुण्य, पाप और धर्म। पाप तो अशुभका नाम है। पुण्य प्रभु भक्ति, देवभक्ति, परोपकार, शील, तपश्चरण, इन शुभ क्रियावोंका नाम है और धर्म—यह मैं आत्मा सबसे न्यारा ज्ञानप्रकाशमात्र हू, ऐसी रुचि जगना, दृष्टि बनना और ऐसा ही समझनेमें जानने में स्थिर रहना ऐसी जो एक परमार्थ पुरुषार्थकी वृत्ति

जगती है उसका नाम है धर्मपालन। पापसे मिलती हैं नारकादिक दुर्गति पुण्यसे मिलते हैं स्वर्गादिक सद्‌गति और धर्मसे मिलता है सदाके लिए सासारिक सकटोंसे मुक्ति। जैसे अपने आपको अकेला निरखनेसे इस जीवको शान्तिका अनुभव होता है ऐसे ही सबसे न्यारा अपनेको निरखने से शान्तिका अनुभव होता है।

काल्पनिक क्लेशोंका कर्षण—जगत्‌के जीवोंको और दु ख है क्या? केवल लगाव। सम्बन्ध मान लिया, बस इस ही में क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं। जहा लगाव है वहा बन्धन है, जहा लगाव नहीं वहा बन्धन नहीं। वस्तुत. वहा भी कोई बन्धन नहीं। सिर्फ कल्पनासे लगाव मान लिया है इस लिए वहा खेद होता है। इस जीवकी विजय शुद्धपरिणाम रखनेमें है। बाह्य पदार्थोंमें आसक्त होकर रागी मोही बनकर उनकी व्यवस्था बनानेसे आत्माका उत्कर्ष नहीं है, किन्तु जिस विशुद्ध परिणामके प्रतापसे सर्व योग्य साधन मिले हैं उन विशुद्ध परिणामोंको बनाये रहनेमें ही आत्माकी विजय है। कुछ भी स्थितिया आयें आत्माकी निर्मलतामें बाधा न डालें। कितना ही दु ख होवे, कितना ही अनिष्ट वियोग होवे, सर्व स्थितियोंमें सहनशीलता होनी चाहिए। कहीं कष्टसे घबड़ाकर अपनी धर्मरुचिको न छोड़ दें।

सुख, दु ख, बन्ध, मोक्षकी एक एक सामान्य पद्धति—धर्म नाम आत्माके स्वभावके विकासका है। व्यवहारमें जो भिन्न-भिन्न देव माने गए हैं, गुरु जन हैं, शास्त्र हैं, ये अनेक आश्रय हैं जो आश्रय एक इस धर्मभावमें लगानेके लिए हैं ये आश्रय स्वय धर्म नहीं हैं और इस व्यवहारिक आश्रय का पक्ष करना भी एकान्त करना भी इस जीवके लिए हितप्रद नहीं है। उनसे काम निकाल लो। वीतरागता और सर्वज्ञताकी ओर झुकाव बने, उसके लिए उन भक्ति और सेवाओंसे अपना काम निकाल लें। धर्मका पालन तो रागद्वेष रहित होकर केवल ज्ञातादृष्टा रहनेमें है। जैसे मनुष्य सब एक विधिसे उत्पन्न होते हैं, चाहे हिन्दू हो, मुस्लिम हो, ईसाई हो, सभी एक विधिसे पैदा होते हैं और एक विधिसे मरते हैं। इसी प्रकार सुख भी ससारमें हम मानते हैं तो एक विधिसे मानते हैं और दु ख भी एक विधिसे मानते हैं। जो बात असल है, जो बात वस्तुमें है उसे कोई मिटा नहीं सकता। ऐसे ही समझो कि जगत्‌में जितने भी आत्मा हैं उन सब आत्माओंको ससारमें रुलनेका कारण यह एक ही विधि है। परपदार्थों का ग्रहण करना, परपदार्थोंसे हित मानना, परपदार्थरूप यह मैं हू, ऐसी प्रतीति बनाना ये सब हैं दु खके कारण, ससारभ्रमणके कारण। कोई भी जीव हो, इसी तरह आनन्दका साधन मुक्तिका उपाय भी सब जीवोंका एक ही प्रकारका है, वह है मोह रागद्वेषसे दूर होना। अपने स्वरूपका

अपने ब्रह्मत्वका यथार्थ परिज्ञान होना, यही है संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय।

भैया! अपने आपको आत्मा मानो और आत्मत्वके नातेसे ही सब पक्ष बनाओ। मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, अमुक मजहबका हूं, अमुक परिवार वाला हूं, अमुक पोजीशनका हूं, ऐसी इस मायाजलरूप लगावकी बातोंमें पड़कर अपने हितकी बात मत खोजो। सब धोखा है और केवल अपने आपको आत्मा मानो। मैं आत्मा हूं, मुझे आनन्द चाहिए, मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानज्योति है, मैं स्वभावसे ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, मुझे ऐसा ही ज्ञानप्रकाशमात्र रहना चाहिए, ऐसी रुचि जगाएँ, ऐसा उद्यम करें तो धर्मपालन होगा। धर्म नाना नहीं होते हैं। धर्म एकस्वरूप होता है और वह अपने अन्तःपरिणामोंसे सम्बन्ध रखता है।

आत्मधर्मकी सम्भाल— हे आत्महितैषी आत्मन्! अपने-अपने धर्मको सम्भाल लीजिए अर्थात् अपने आपमें मोह रागद्वेषको मिटा लीजिए। समग्र वस्तुओंके केवल जानन देखनहार रहो, यही धर्मपालन है, ऐसा जिसने किया और इस पुरुषार्थके प्रतापसे जो निर्दोष और परिपूर्ण विकास वाले हों वे ही तो हमारे प्रभु हैं और ऐसा बननेका जो यत्न करते हैं वे ही हमारे गुरु हैं, ऐसी बातें सिखानेकी जहां लिखी हुई हैं वहीं हमारे शास्त्र हैं, उपदेश है। मैं आत्मा हूं, मेरे साथ आत्माका ही नाता है, देह का नहीं और इस देहके कारण जो जो कुछ व्यवहारमें विडम्बनाएँ बनती हैं उनसे भी कुछ नाता नहीं है। केवल आत्माके नाते से मैं अपने हितका निर्णय करूँ, इसमें ही इस दुर्लभ नरजीवनकी सफलता है।

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥१४५॥

प्रत्येककी एकता—हम आप जो कुछ भी नजरमें आ रहे हैं ये एक एक नहीं हैं, ये अनेक चीजोंके पिंड बैठे हुए हैं। किसी भी एक मनुष्यको उदाहरणमें ले लो, वह दिखनेमें तो एक मनुष्य आ रहा है किन्तु जीव जरूर एक है और एक भी क्या, शरीरके अंग अंगमें असंख्यात जीव और पड़े हुए हैं। खैर, उनसे हमारे व्यवहारकी बात नहीं है। हम तो उस एकसे व्यवहारकी बात लगा रहे हैं, जो समझता है, जो इस शरीरका मुख्य अधिष्ठाता है। इस पिण्डमें जिसे हम एक मनुष्य कहते हैं एक तो जीव है और जिन परमाणुवोंसे शरीर बना है ऐसे अनन्त परमाणु हैं। एक चीज वह कहलाती है जिसका दूसरा हिस्सा न हो सके। एक कभी आधा नहीं होता यह स्वरूपका अटल नियम है। कोई व्यवहारमें ऐसा कहे कि देखो यह एक गन्ना है ना, इसके १० टुकड़े कर दें। अरे वह गन्ना एक

चीज ही नहीं है। गन्नेमें छोटे-छोटे कितने ही अग बनते हैं वे तोड़ने से बिखर गए, जुदे-जुदे हो गये। यह चौकी है, इसे लोग कहते हैं कि यह एक है। यह एक चीज है ही नहीं। इसके अविभागी अश अनन्त हैं और उन अनन्त अशोंका यह पिण्ड है। जो एक वस्तु होती है उसका कभी भाग नहीं होता, वह आधा नहीं होता।

प्रत्येक जीवकी अखण्डता—हम आप जीव हैं। एक एक चीज हैं तो इस जीवका कहीं आधा-आधा भाग हो सकता है? मैं आधा शरीरमें ही बैठा रहू और आधा इस शरीरसे बाहर कहीं बैठ जाऊँ, ऐसी सामर्थ्य है क्या किसीमें? नहीं है। वह तो एक ही है। कभी ऐसा हो जाता है कि शरीरका कोई अग टूट गया, मानो एक अगुली टूट गयी, चार हाथ आगे गिर गयी। तो वहाँ अगुली भी कापती है, यहाँ हम भी कापते हैं। तो वहा उस समय कुछ देर तकके लिए अगुलीमें भी जीव है, हममें भी जीव है, पर इस तरह यह जीव नहीं फैला कि कुछ अगुलीमें जीव है, कुछ हममें जीव है। उस अगुलीसे लेकर यहा हम तक जो चार-छ: हाथका अन्तर है उस पूरे क्षेत्रमें वह एक जीव है, पश्चात् वे पूरे बाहर फैले हुए प्रदेश समिट कर शरीरमें प्रवेश करते हैं और वह भाग अकेला अचेतन होकर पड़ा रहता है। एक जीवका कभी भाग नहीं होता।

दृश्यमानोंमें भी प्रत्येकमें एकता—इन दिखने वाले पदार्थोंमें परमाणु है वास्तविक चीज, जिन परमाणुओंके सम्बन्धसे यह पिण्ड बना है, उस परमाणुका भाग नहीं होता। दिखने वाले लोगोंमें किसी एकको उदाहरणमें ले लो, इसमें जीव तो एक है और अनन्तानन्त शरीरके परमाणु हैं और उससे अनन्त गुणे अनन्तानन्त कर्मोंके परमाणु हैं। यों अनन्त पदार्थोंका ढेर है यह जीव, जो इसकी दृष्टिमें आ रहा है और इसीलिए यह मायारूप है। यह सदा ही ऐसा रह सके ऐसा तो नहीं है, बिखर जाता है, मिट जाता है, जुदा हो जाता है। यह सब मायाजाल है। इस मायाजालमें जो लोग विश्वास रखते हैं कि यह सही वस्तु है, हमारे हितरूप है, वे जीव तो ससारमें सकट सहते हैं, जन्म लेते हैं और मरते हैं और जो इन सब में सबको जुदा-जुदा निहारते हैं; इसमें एक-एक परमाणु तत्त्व है, यह एक जीव तत्त्व है। यों भिन्न-भिन्न स्वतत्र-स्वतत्र निहारते हैं, उनके मोह नहीं होता। तब यह जीव मुक्तिके मार्गमें बढ़ता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आत्मभक्तिसे परमात्मत्वका दर्शन—हमें अपना विश्वास अत यह रखना चाहिए कि मैं देहसे न्यारा यह ज्ञानमात्र आत्मा हू और इस मुझ आत्माको आनन्द चाहिए और आनन्द मिलता है इस अपने स्वरूपकी

सेवासे। सभी लोग कहते हैं—घट-घटमें परमात्मा बसता है, वह कहाँ बसता है और कैसे उसका दर्शन होता है? इसका कुछ प्रकाश मूलसे किसी को मिला है? उन्हें मिला है जो अपनेको बाहरमें किसी जगह प्रभुको निहारनेकी चेष्टा नहीं करते। जब घट-घटमें परमात्मा है तो हम बाहरमें आँखें खोलकर कहाँ देखें जहा वह परमात्मा मिलेगा? जब मुझमें ही परमात्मा है, घट घटमे परमात्मा है, प्रत्येक देहमे परमात्मा है तो बाहर दृष्टि न करके, बाहरसे दृष्टि मोड़कर अपने आपमें स्वय निर्विकल्प होकर परमविश्राम लेकर निहारना चाहिए, वहाँ परमात्माका दर्शन होगा। प्रभु का दर्शन, निरुपम आनन्दका अनुभव करते हुए ही हो सकता है, दुःखी रहकर परमात्माका दर्शन नहीं होता। मैं दुःखी रहूं, चिन्तावोंमें बसूँ, शोकमें बना रहूं और प्रभुदर्शन हो जाय, यह नहीं हो सकता। मैं कषायों को हलका करूँ, मोहको दूर करूँ, विकल्पोंसे मुख मोड़ूँ, अपने आप शुद्ध विश्रामसे रह जाऊँ वहाँ जो एक सुगम स्वाधीन अनुपम आनन्द प्रकट होता है। उस आनन्दका अनुभव करते हुएकी स्थितिमें परमात्मस्वरूपका दर्शन होता है। ये सब कल्याणकी बातें, एकत्व भावना और अन्यत्व भावनासे प्राप्त होती हैं।

आत्मनिर्णयके लिये आवश्यक मूलज्ञान—मैं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हू। इस आत्माके अनुभवके लिए अधिक परिश्रम न करना चाहें तो इस ५०–६०–७० वर्षके जीवनमें कभी दो चार मिनट तो आत्म-हितके लिए सच्चाईके साथ उद्यम करलें तो कौनसा घाटा पड़ जायेगा? ये जीव सभी अपनी-अपनी कल्पनाओंके साथी हैं, अपने स्वार्थके साथी हैं, अपने सुखके साथी हैं। किसी जीवका किसी दूसरे जीवमें प्रवेश ही नहीं होता। इतना तो पहिले समझना ही होगा। ये धन वैभव, ये जड़ पदार्थ जड़ ही हैं। इन जड़ पदार्थोंसे मुझ आत्मामें कोई आनन्द अथवा ज्ञान अथवा स्वरूप का विकास नहीं होता। कुछ ज्ञान तो होना ही चाहिए।

आत्मनिर्णयके लिये सत्याग्रहकी आवश्यकता—अब इस ज्ञानके आधार से अपने आपको सत्यके आग्रहमें ले जाइये। यहाँके ये सारे समागम असत्य हैं मेरे लिए। सत्य तो मेरे लिए मेरा ही एक स्वरूप है। अब परसे उपेक्षा कर दीजिए, किसी परतत्त्वका ख्याल न रखिये। इस चित्तमें जो भी परवस्तुयें आती हों ज्ञानसे तुरन्त उनको रोक दें, मत आने दें। मैं इस समय सत्यके आग्रहमें लगा हू, मैं अपने आप सत्यका निर्णय करना चाहता हू, मैं लोगोंकी बातों में आकर निष्पक्ष दर्शनका निर्णय कर सकूँगा, इस में मुझे शका है क्योंकि गुरु बहुत हैं, मजहब बहुत हैं, परिपाटिया बहुत

हैं। जो जिस कुलमें पैदा हुआ है वह अपने कुलकी गाता है। तो हम क्या आशा रखें किसी दूसरेसे कुछ सुनने की कि मैं समझ जाऊँ कि सत्य यह है। अब तो इसका यह निर्णय किया है कि जब मैं स्वयं ज्ञानरूप हू, समझनहार हू तब मैं स्वयं ही अपने आपमें सत्यका क्यों न निर्णय कर लूँ? मुझे किसी परपदार्थसे प्रयोजन नहीं। जो भी चित्तमें आये उस सबको राको। मेरे ज्ञानमें मत आवो, मुझे किसी परको नहीं जानना है। इन सब परपदार्थोंके ख्यालको दूर करके एक परमविश्रामसे बैठ तो जाइये। जैसो जो स्थिति हो वह मुझमें अपने आप प्रकट होकर बतायेगी कि तत्त्व यह है। सत्य जाननेके लिये आग्रह करके बैठ तो जाइये।

सत्याग्रहके साथ असहयोगका आन्दोलन—सत्यका आग्रह करनेके साथ साथ परपदार्थोंका असहयोग भी कर दो। सत्याग्रह और असहयोग—इन दोनों उपायोंको तो करो। अपने आपमें बसे हुए सत्यका तो आग्रह करो। मैं अपने आप समझूँ कि सत्य क्या है और समस्त परपदार्थोंसे असहयोग कर दो कि मुझे तुम्हें नहीं जानना है। तुम ख्यालमें मत आवो, बाहर हट जावो। इस प्रकार इस सत्याग्रह और असहयोगके साधनसे अपने आपको आनन्दका मार्ग स्वयं विदित हो जायेगा और वह इस अनुभूतिके साथ विदित होगा कि मैं प्रति क्षण यह प्रेरणा कर लूँ कि बस मैं अपने आपके आत्माका नाता लगाऊ। मुझे आनन्द पाना है, शान्ति पानी है, मुझे धन वैभव परिजन इत्यादि किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं। मुझे तो एक शुद्ध होना है, आनन्दमय होना है, सत्य ज्ञानी बनना है, उसमें ही हमारा कल्याण है ऐसा आग्रह करें और परपदार्थोंसे अपने को दूर रखनेका प्रयत्न करें तो अवश्य ही कल्याण प्रकट होगा।

आत्मविजयका प्रयोग—यह देह और यह मैं आत्मा, ये दोनों ही भिन्न भिन्न हैं। देह तो अचेतन है और यह मैं आत्मा चेतन हू, और इस वर्तमान स्थितिमें इस देहसे बधा हुआ हू, अनादिकालसे बन्धन है। जैसे स्वर्णपाषाण और उस स्वर्णमें अनादिसे बन्धन है, पर प्रयोग द्वारा मशीनों द्वारा उस स्वर्णपाषाणको दूर करके स्वर्ण निकाला जाता है, ऐसे ही भेदविज्ञान द्वारा इस शरीरको दूर करके अपने आपके स्वरूपको ज्ञान से ग्रहण करके इस शरीरसे छुटकारा पाया जा सकता है। बस यही है मोक्ष। मोक्ष ही परम हित है, क्योंकि मोक्षमें आकुलता नहीं है, वहा कैवल्य है और उपाधिका सम्बन्ध नहीं है। उस कैवल्य अवस्थाको पानेके लिए हम अभीसे अपने को केवल निरखने लगें तो हम उस अवस्थाको पा सकते हैं। मैं शरीरसे जुदा हू, ज्ञानमात्र हू केवल ज्योतिस्वरूप हू, ऐसी रुचि ऐसी प्रतीति और ऐसा अनुभव करनेका यत्न हो, यही है वास्तविक धर्मपालन और इसमें हो परम शान्ति प्राप्त होती है।

इह मूर्तममूर्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।
शरीरमुह्यते मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ॥१४६॥

मोहवश शरीरका वहन—इस जगत्में मोहवश इस अमूर्तिक जीवको, इस मूर्तिक शरीरको अपने साथ-साथ लगाये रहना पड़ता है। यह आत्मा अमूर्तिक है, शरीर मूर्त है, विलक्षण लक्षण है फिर भी इस जीवको यह शरीर अपने साथ-साथ लगाये रहना पड़ रहा है। यह जीव चल है, इसमें तो ऊर्ध्वगमनशक्ति है और यह शरीर अचल है, अर्थात् इसमें अपने आप चलनेका कोई माद्दा नहीं है। मुर्दा शरीर जो है उसकी तरह यह शरीर है, लेकिन इस जीवके साथ यह शरीर कैसा लगा फिर रहा है? जीव चेतन है और शरीर अचेतन है। कोई मित्रताकी गुञ्जाइश नहीं है, भिन्न-भिन्न स्वरूप है लेकिन मोहके कारण इस जीवको कैसा शरीरके साथ लगा रहना पड़ रहा है? अन्यत्व भावनाके इस प्रकरणमें यह बात दिखाई जा रही है कि यह शरीर जीवसे कैसा तो पृथक है और कैसा यह सम्पर्क बीत रहा है?

क्लेशोंका कारण काय—सच समझिये कि इस जीवको जितने भी क्लेश हैं वे सब इस शरीरके कारण हैं। शरीरके कारणसे ही तो भूख प्यास ठंड गर्मीके दु:ख सहने पड़ रहे हैं। जीवके स्वरूपमें भूख, प्यास, सर्दी गर्मी कहां है? जितने रोग हैं, वेदनाएं हैं वे सब इस शरीरके कारण ही तो सहने पड़ते हैं। इष्टका वियोग हो तो उसमें यह दु:ख मानता है। ये दु:ख इस शरीरके सम्बन्धसे ही तो लग रहे हैं, हम यों शरीर वाले हैं। जब दूसरे शरीर वालेको देखकर इष्ट अथवा अनिष्ट मानते हैं, शरीर रहित केवल यह मैं स्वयं ही होऊँ उसको फिर इष्ट क्या अनिष्ट क्या? शरीर लगा रहने के कारण विषयोंके साधनोंकी वृत्ति होती है और विषयसाधनका कार्य पड़ा हुआ है, इस कारण दूसरे इष्ट भी अनिष्ट जचने लगते हैं। शरीर भी रहा आये, पर शरीर न रहनेकी तरह हो जाय अर्थात् यह जीव विषयोंका साधन न बनाये, न करे तो फिर कौन इसके लिए इष्ट है और कौन अनिष्ट है? तो इष्टवियोगका दु:ख होता है वह भी शरीरके सम्पर्कके कारण। अनिष्ट संयोगका दु:ख होता है वह भी शरीरके सम्बन्धके कारण। कोई भी जीव केवल अपने शुद्धस्वरूपके लिए इच्छा नहीं बढ़ाता। शरीरादिक परद्रव्योंका इसने अपनायत किया है तब इसके इच्छा जगी। है कोई ऐसा जीव जो शरीरमें अपनायत न करे, शरीरके विषयोंके साधनोंमें रंच भी वृत्ति न जगाये और फिर निदान बाँधे इच्छा करे। कर ही नहीं सकता।

शरीरसे सारहीनता—इस शरीरमें सारका नाम नहीं है, मल से भरा

हुआ पिण्ड है यह। कोई इस शरीरमें उत्कृष्टता नहीं, विवेक नहीं, बुद्धि नहीं। किसी भी ढंगका तो नहीं है शरीर, लेकिन मोहवश यह जीव इस शरीरको ही अपना सर्वस्व समझता है। जब तक शरीर लगे रहेंगे तब तकजीवको संकट है। संकट तभी छूटेगा जब शरीरका कर्मोका बन्धन मिटेगा।

विवेकीका मूल लक्ष्य – प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनका कोई न कोई एक मूल लक्ष्य बनाए रहते हैं। किसी के लक्ष्यमें यह है कि मैं अच्छे परिवार वाला बनू, लड़के बहुत निपुण बन जायें, किसीके लक्ष्यमें यह है कि मैं धनमें सबसे अच्छा कहलाऊं, किसीके चित्तमें यह है कि मैं देशका अधिकारी बनू। प्रत्येक मनुष्य अपना कोई न कोई मूल लक्ष्य लिए हुए रहता है, किन्तु विवेकी मनुष्य वही है जो सबका यथार्थस्वरूप जानकर अपना यह लक्ष्य बनाए कि मुझे तो जैसा मैं केवल हू उस प्रकार रहना है।

आत्महितकी योजना—जैसे देशके हितमें कोई योजना ऐसी हो कि २० वर्ष बाद सफल हो, ५० वर्ष बाद सफल हो तो देशवासी उसे करते हैं ना। कोई पूछे—क्यों करते हो, तुम तो १०–५ वर्षमें ही मर जावोगे। क्या पता कि क्या होगा, क्या न होगा, पर देशकी बात एक देश जैसे व्यापक ढंगसे सोची जाती है, इस कारण २५–५० वर्ष बाद भी जो प्रभाव बन सकेगा उसका उद्यम अभीसे किया जाय, पर यह अपने आत्माके बारेमें तो अनन्त काल जैसी व्यापक बात सोचता है, उसके लिए एक भव नहीं चाहे १० भवोंमें सिद्धि मिले किन्तु उसकी योजना और उस योजनापर कुछ अपना अमल अभीसे करनेकी जरूरत है। अपना मूल लक्ष्य यह होना चाहिए कि मुझे तो समस्त परवस्तुवोंसे रहित केवल निजस्वरूप मात्र रहना है, मेरा तो यही प्रोग्राम है। सफल कब होंगे—५ भव बाद भी हो तो भी क्या? एक भवमें भी हों तो भी क्या, कभी हों, पर ऐसा किए बिना गुजारा तो नहीं है, अतएव यह लक्ष्य अभीसे बना लेना चाहिए।

भेदविज्ञानसे प्रगति—जिनका आत्मस्वरूपविकासका लक्ष्य बना होगा वे शरीरमें रहते हुए भी शरीर ढो नहीं रहे हैं। जीव जीवमें है, शरीर में है। जो होना है वह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे हो रहा है, पर मोह न होनेसे यह शरीरका ढोने वाला भी नहीं कहा जा सकता है किन्हीं अंशों में। यहां अपने आपपर दृष्टिपात कीजिए कि मैं क्या हू और कहा जुत रहा हू? मैं कैसा निर्भार हू और कैसा भारमें पड़ गया हू। मैं कैसा सूक्ष्म अमूर्त अव्याबाध तत्त्व हू और इसकी आज क्या स्थिति बन रही है? ऐसा विचार विवेक बनानेसे स्वयमें वह प्रगति जगेगी जो अपने लिए हितकारी होगी।

अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम।
उपयोगात्मकोऽत्यक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः ॥१४७॥

शरीरकी मायारूपता—जीवोंका यह शरीर अणुओंके समूहसे बना हुआ है। जैसे बालूके ढेरसे बना हुआ कोई घर बूला हो तो जैसे वह असार जंचता है और जरासे धक्केमें सब विघट जाता है उस ही तरह यह शरीर है। परमाणुवोंके समूहसे बना है, असार है, स्वयं कुछ घनरूप नहीं है और जरासे प्रसंगमें यह बिखर जाता है। इस प्राणीका यह शरीर जिस पर प्राणी बड़ा नाज करता है यह शरीर असार है। जब तक इस शरीरका मल शरीरमें ढका रहता है तब तक यह सुहावना जंचता है और किसी भी जगह नाकसे मुखसे, थूक लार कुछ भी मल व्यक्त हो जाय तब फिर इसका असारपना स्पष्ट जचने लगता है। उसकी भी बात जाने दो, कोई यदि अपनी नाकमें अगुली डालकर नाकका मल निकालता है तो दूसरोंको भी यह बात विदित हो जाती है कि इसमें इस प्रकारका मल है और इसे निकालता है। इतनी ही दृष्टि आने पर असारता जंचने लगती है। यह तो बना हुआ मिट्टीका पुतला जैसा है। मिट्टीका पुतला भी अच्छा उसमे हाड मास खून तो नहीं। यह बाहरसे देखनेमें कुछ सुहावना जच रहा है किन्तु यह शरीर तो सर्व मलोंका घर ही है।

नरदेहसे लाभ उठानेका उपयोग—भैया! उपयोग लगानेकी बात है। मलवाले शरीरका भव ही हमारे कल्याणका एक बाह्य साधन बनता है। जिनका दिव्य शरीर है, हाड़ मांससे रहित है ऐसे दिव्य शरीरसे कल्याण और उन्नतिकी बात नहीं बनती। ऐसा दिव्य शरीर है देवोंका। हम आप का शरीर अपवित्र है, बीचमे ही हम आपकी मृत्यु हो जाती है, ये दो ऐब इसमें ऐसे हैं, और तीसरा है इष्ट वियोगका ऐब। ये ऐब इसमें हैं, लेकिन ये ही ऐब इसके वैराग्यके खास सहायक बन जाते हैं। शरीर अशुचि है अतएव यह वैराग्यका कारण बनता है। बीचमें जब चाहे मरण सम्भव है तब धर्म धारण करनेकी इसके उलायत बनती है। शीघ्र इस धर्मको धारण कर लो। यहां इष्टवियोग होता है तो यह भी सम्वेग और वैराग्यका कारण बनना है।

भेदभावनाका उपयोग—जीवोंका यह शरीर जैसा जो कुछ भी है उससे यह आत्मा अत्यन्त विलक्षण है। शरीर जड़ है तो यह आत्मा उपयोगमय है। शरीर इन्द्रियमय है, यह आत्मा अतीन्द्रिय है। शरीर भी अनेक पदार्थोंके समूहसे बना है। तो यह जीव केवल अपने स्वरूपको बनाता है, इतना अत्यन्त विलक्षण होकर भी शरीर और जीवकी यह अनिष्ट मित्रता यह अनिष्ट घनाश्लेष इस जीवको ऐसा दुःखके लिए लग

गया है कि जिसके कारण यह अनादिसे अब तक ऐसे ही क्लेशोंमें पड़ा चला आ रहा है। हम शरीरको अन्य समझें, अपनेको उससे जुदा समझें और शरीरसे उपेक्षा परिणाम रख सकें और अपने आपकी ओर रुचि कर सकें तो ऐसी वृत्तिसे ही हम आपका यह दुर्लभ नर जीवन सफल है; ऐसा अपना निर्णय रखिए।

अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिता ।
यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते ॥१४८॥

सर्वविदित अन्यपना—यद्यपि यह शरीर और आत्मा परस्परमें भिन्न-भिन्न हैं तो भी इस संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित यह मोही प्राणी क्यों नहीं देखता है कि यह शरीर अन्य है और मैं उससे अत्यन्त विविक्त हूं। यह अन्यपना जन्म तथा मरणके समूहमें प्रसंगमें सर्वलोगोंकी प्रतीतिमें आता है अर्थात् जब शरीरको साथ नहीं लिया और मरता है तब यह शरीर साथ नहीं जाता। मुट्ठी बांधकर आया है, हाथ पसारकर जाना है, दो दिनका सब खेल तमाशा मिट्टीमें मिल जाना है।

शरीरकी दशा—एक बार कोई घमंडी पुरुष इतराकर चल रहा था। चलते हुएमें एक उभरी हुई जमीनसे रपटा लग गया तो कुछ मिट्टी खुद गई। तो मिट्टी कहती है—अलंकारमें कविकी भावना देखिये—मिट्टी कहती है—अरे तू क्या घमंडसे चल रहा है। तू ने जो मेरेमें घाव पैदा कर दिया मिट्टी कंकड़ जो निकल गए पैरकी ठोकरसे तो जो मुझमें घाव बन गया है इस घावका तो तू पैबन्द है अर्थात् तेरी मिट्टीसे मेरा घाव भर जायेगा शरीर मिट्टीरूप बन जायेगा तो जमीनमें एकसा हो जायेगा। तू क्या अभिमान करता है अर्थात यह भी मिट्टी है। पहिले समयमें लोग मांसका नाम नहीं लिया करते थे। जैसे किसीके बारेमें कहना है कि वह मांस खाता है तो यों नहीं कहते थे। यों कहते थे कि वह तो मिट्टी खाने लगा, वह तो गंदी चीज खाता है। इतना शाकाहारका दृढ़ संकल्प था जनताका। तो यह मिट्टीमें मिल जायेगी, इस शरीर पर क्या इतराना ? इस शरीरको देखकर क्या अभिमान करना ? शरीरसे भिन्न अपने आपके इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको निरखो तो इसमें कुछ कल्याण भी मिलेगा। इस शरीर शरीरके प्रेममें रहकर तो यह जीवन व्यर्थ खोया समझिये।

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः ।
यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः ॥१४९॥

सम्बन्ध न होने पर भी शरीरका योग जाना—मूर्तिक चेतनारहित नानाप्रकारके स्वतंत्र परमाणुवोंसे बना हुआ यह शरीर और अमूर्तिक चैतन्यमय केवल अपने अखण्ड एकत्वको लिए हुए यह आत्मा, इन दोनोंमें

एक विचार तो करो कि क्या सम्बन्ध है ? आत्माका शरीर क्या लगता है ? जैसे यहा कल्पनामे मानते हैं ना कि यह मेरा पुत्र है, मित्र है, भाई है। इस शरीरके साथ तो बताओ क्या नाता है ? यह शरीर तुम्हारा कौन है ? लड़का है या बाप है ? कौन लग रहा है यह शरीर ? कुछ सम्बन्ध भी तुमसे है क्या ? अत्यन्त तो भिन्न स्वरूप हैं, कुछ भी सम्बन्ध नहीं है लेकिन यह तो उपद्रव लगा है कि जो शरीरसे बँधे-बँधे फिरते हैं। अरे आत्मन्! तुम्हें आनन्द ही तो चाहिए या शरीरका सम्बन्ध चाहिए ? अरे आनन्द जिस पद्धतिमे मिले, जिस उपायमें प्रकट हो उस उपायमे बढ़िये। शरीरका सम्बन्ध तो क्लेशका ही कारण होगा। यह शान्तिका कारण तो हो ही नहीं सकता।

शरीरसे हितका अभाव—आत्मामे शान्ति परिणमन करना है तो उस शान्ति परिणमनमें यह शरीर कैसे साधक बनेगा ? कोई ढंग भी है क्या ? शरीरपर दृष्टि जायेगी जीवकी तो इसका भाव यह है कि अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरमें दृष्टि जायेगी, सो बाहरमे ऐसी दृष्टिका लगना क्षोभसे भरा हुआ है। बाहरकी ओर दृष्टि जाना ही क्षोभका एक स्वरूप है। क्या सम्बन्ध बना हैं, किस काम आया यह शरीर ? जैसे दुष्ट मित्र, मूर्ख मित्र चाहे वह किसी परिस्थितिमें प्रेमका बर्ताव करता हो, पर जिसका चित्त दुष्ट है अथवा जिसमे अज्ञान पड़ा हुआ है उससे सुख सन्तोष साता शान्तिकी क्या आशा की जा सकती है ? ऐसे ही समझिये कि यह शरीर किसी परिस्थितिमें किसी हद तक किन्हीं कल्पनाओंमें यह भला जँचता हो लेकिन यह अज्ञ है और दुष्ट है, भिन्न है। इस शरीरसे अपने सुख अथवा शान्तिकी क्या आशा की जा सकती है ? क्षोभको व दुःखको ही एक आराम मान ले कोई मोहवश तो उसका यह मानना उसके घरकी कल्पनाएँ हैं—जो चाहे कह लो, पर सुख शान्ति इस शरीरके सम्बन्धसे किसी जीवको नहीं हो सकती है।

आत्महितोद्यम—भैया! इस शरीरसे अपनेको भिन्न परखकर इसके खातिर विकल्प न बढ़ायें और अपने आपका स्वरूप अपने आपमें ही रत रहे, स्थिर रहे, स्वय स्वयमें मग्न हो सके, ऐसी स्थिति बनानेका लक्ष्य रहना चाहिए। जब शरीर भी मेरा नहीं है तब फिर अन्य जीव मेरे क्या हों ? जैसे चमड़ा ही नहीं रहा शरीर पर तो रोम कहा ठहरेंगे ? यदि बाह्य वैभवका अन्य सब समागमोंका मोह मिटाना है तो पहिले इस देहका ही मोह मिटा लीजिए ना। जब अपने आपको देहसे प्रकट निराला आप स्वय जचने लगेंगे तो यह सबसे निराला अपने को सुगमतया मान ही लेगा। सर्व परवस्तुवोंसे भिन्न अपने आपको निरखना, यही एक शान्तिके उपायोंमें लगा देने वाला मार्ग है।

अन्यत्वमेव देहेन स्याद् भृशं यत्र देहिन ।
तत्रैक्यं बन्धुभि सार्धं बहिरङ्गै कुतो भवेत् ॥१५०॥

परपदार्थोंसे आत्माके ऐक्यका त्रिकाल अभाव—जब इस प्राणीकी इस देहसे ही अत्यन्त भिन्नता है तो बहिरङ्ग जो बन्धुजन परिजन हैं उनमें एकता कैसे हो सकती है ? ये बन्धुजन तो प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई पड़ रहे है। एक क्षेत्रमें भी नहीं हैं। तो ऐसे अत्यन्त भिन्न परिजनोंके साथ इस देहका एकत्व कैसे हो सकता है ? देहका और जीवका अन दिकालसे परम्परासे एक क्षेत्रमे रहकर भी स्वरूपदृष्टिसे देखो यह अत्यन्त भिन्न है। देह है परमाणुवोंसे रचा हुआ अर्थात् अनेक पदार्थोंका पुञ्ज और जीव है एक अपने अखण्ड स्वरूप वाला। इस चेतनका इन बाह्यपदार्थोंसे तो सम्बन्ध ही क्या होगा, जब एक क्षेत्रमें रहने वाले इस देहरूप निकटीय परपदार्थसे ही अत्यन्त भिन्नता है। देहसे अपने आपका भेदविज्ञान जगे तो अन्य जीवोंसे, अन्य पदार्थोंसे भेदविज्ञान इसका स्वय प्रसिद्ध हो जाता है।

ये ये सम्बन्धमायाता. पदार्थाश्चेतनेतरा ।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणा ॥१५१॥

समागत पदार्थोंकी निजस्वरूपसे भिन्नता—इस जगतमें जो जो जड़ और चेतनपदार्थ इन प्राणियोंके सम्बन्धरूप हो जाते हैं वे सभी सब जगह अपने-अपने स्वरूपसे विलक्षण है और आत्मा सबसे भिन्न हैं। जब लोकमें सभी पदार्थ हैं तो निकट अनेक पदार्थ होते ही हैं और फिर पूर्वबद्ध कर्मोंके अनुसार ऐसे सयोग भी जुट जाते हैं लेकिन यह न भूलना चाहिए कि जो कुछ भी सम्बन्धमें आया है वे सब परपदार्थ हैं, आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं। यदि भिन्न न समझेंगे तो निकटकालमें ही बहुत दु खी होना पड़ेगा। दु ख और है किस बातका जीवोंको ? केवल परपदार्थोंके अपनानेका दु ख है, मोह लगा है उसका दु ख है, है यह ऐसा ही एकाकी कि जब चाहे तब यहा रहे, जब चाहे चला जाय। इसका किसीसे कोई खास सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह जीव मोहवश अपनी ओरसे ही समस्त सम्बन्ध बना रहा है समागममे आये हुए सर्व पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं, अत्यन्त विलक्षण हैं और भिन्न हैं और यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे हू अत सबसे विलक्षण हू और भिन्न हूं। ऐसी अन्यत्व भावनामें अपनी भिन्नता देखनी चाहिए।

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च ।
सर्वथान्यस्वभावानि भावय त्व प्रतिक्षणम् ॥१५२॥

परपदार्थोंके अन्यस्वभावत्वकी भावना—हे आत्मन् ! इस जगतमें पुत्र

मित्र आदिक अन्य वस्तुवोंमें तू निरन्तर अन्यत्व भावना कर। सभी पदार्थ भिन्न हैं। सन्तोष जब होगा तब इस भावनाके आधारपर ही होगा। अतः अपने आपको अकेला देखो और समस्त पदार्थोंसे न्यारा देखो। बहुत बड़ा झंझट लगा है इस जीव पर। बड़ा विकट बंधन है। किस बातका बन्धन है? जैसे अभी आप अपना सद्व्यवहार बनाये हैं, इससे प्रेरित होकर अनेक पुरुषोंका आपकी ओर आकर्षण हुआ है उसके उत्तररूपमें आप विचार लो, दिखने वाले जीवोंसे कितना आप बँधे हुए हैं। संसारी जीव हम आप दिखने वाले लोगोंसे बँधे हुए हैं ना? सम्बन्धोंको देखकर निष्पक्ष समझ नहीं रह सकती? किसी न किसी प्रकारका क्षोभ करता है यह। रागादिकरूप भाव करे, जाननरूप भाव करे, कुछ न कुछ इसमें क्षोभ हो ही जाता है। जिस किसीको भी देखकर और उसमें भी परिजन को देखकर, वे परिजन भी क्या हैं—स्वप्न जैसा परिचय है। मिट गये, बबूलेका क्या परिचय? ऊपरसे गिरे हुए जलमें बबूला बन गया तो वह कितनी देरको ठहरता है, ऐसे ही यहाँ जो कुछ आकार दिख रहा है कितनी देरका ठहरना है और इसमें सार है क्या?

अन्यः कश्चिद् भवेत्पुत्रः पिताऽन्यः कोऽपि जायते।
अन्येन केनचित्सार्धं कलत्रेणानुयुज्यते ॥१५३॥

सम्बन्धोंकी अन्यता— इस जगतमें कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही कोई पिता होता है, किसी अन्य जीवके ही साथ स्त्री सम्बन्ध होता है। इस प्रकार देखो सारे सम्बन्ध भिन्न-भिन्न जीवोंसे होते हैं। एक ही जीव खुदका पुत्र बन जाय, खुदका पिता बन जाय, खुदकी स्त्री बन जाय, ऐसा तो नहीं है। जितने भी सम्बन्ध हैं वे भिन्न जीवोंसे होते हैं, अभिन्नसे सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। सम्बन्ध माननेका अर्थ ही यह है कि ये भिन्न-भिन्न हैं। सम्बन्ध मानकर शिक्षा तो यह लेनी चाहिए कि ये भिन्न भिन्न हैं, पर स्नेहसे यह ग्रहण कर लिया गया कि ये मेरे ही हैं। ज्ञानी जीवका अद्भुत अन्त: प्रभाव होता है। नरकगतिमें पहुंचा हुआ जीव इतने विकट उपसर्गोंको सहता है, मारपीट सहता है और दूसरोंको भी मारता पीटता है, इतने पर भी वह अन्तरङ्गमें सम्यग्दृष्टि नारकी है तो श्रद्धामें इन बाह्य क्रियावोंसे विपरीत है। इतने दु:ख भोगकर भी श्रद्धामें उनके प्रति लगाव नहीं समाया है।

स्वस्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथग्व्यवस्थिताः।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥१५४॥

समस्त पदार्थोंकी आत्मस्वरूपसे पृथक्ता—इस अन्यत्व भावनाके अन्तिम प्रसंगमें यह उपदेश दे रहे हैं आचार्यदेव कि हे व्यामोही पुरुष!

तीनों लोकवर्ती समस्त बाह्यपदार्थ तेरे स्वरूपसे भिन्न और सर्वथा पृथक पृथक् ही ठहरे हुए हैं, तू उनसे अपना एकत्व मत मान। जो कुछ भी पदार्थ हैं ये इस ही कारण हैं कि अब तक कि ये अपने स्वरूपमें तो तन्मय रहे किन्तु किसी भी परके स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सके। इसीसे इतने पदार्थों का अस्तित्व है। यहां यह सिद्ध कर रहे हैं कि न तो भूतकालमें कभी ऐसी गारन्टी हुई कि किसी पदार्थने किसी अन्य पदार्थके स्वरूपको अपना या है और न भावीकालमें ऐसी गारन्टी हो सकेगी कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको अपना सकेगा। जब ऐसी स्थिति है तो ऐसा ही मान लें, इस भावनामें कल्याणका पथ मिलेगा। आकिञ्चन्य भावना एक बहुत हितकारी भावना है। जीवको सन्तोष आकिञ्चन्य भावनामें ही मिलता है। मेरे लिए मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं सबसे न्यारा केवल एक चैतन्यस्वरूप हू, ऐसी भावनासे ही अपने आपकी समृद्धिके दर्शन होते हैं। जो कुछ चाहता है उसको कुछ मिलता नहीं है। जो अपने आकिञ्चन्य स्वरूपको देखता है उसे सर्वसमृद्धि प्राप्त हो जाती हैं।

कुछकी हठमें कोयला हाथ—एक ऐसा कथानक प्रसिद्ध है कि किसी सेठने नाईसे हजामत बनवाई, सेठ था डरपोक। प्राय सभीको नाई पर बड़ा विश्वास रहता है। वह उस्तरा गलेमें भी चलाता है, जरासा ही तो उस्तरा दबाने का काम है कि उसका सफाया हो जाय, लेकिन प्राय सभी को नाई पर बड़ा विश्वास रहता है, किन्तु इस प्रसगमें वह सेठ डरा कि कहीं यह नाई हजामत बनाते हुएमें गलेमें उस्तरा मार न दे। तो नाई से वह सेठ कहता है—देखो अच्छी तरह हजामत बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। नाई ने समझा कि सेठजी धनी आदमी हैं, कोई अच्छी चीज खुश होकर निशानीरूपमें देंगे। तो उस नाई ने अच्छी तरह हजामत बना दी। बादमें सेठ चार आने पैसे निकालकर देने लगा। नाई बोला—हम ये पैसे न लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। फिर सेठ ८ आने देने लगा, रुपया देने लगा, अशर्फी देने लगा, पर वह कुछ की जिदमें पड़ गया। हम तो कुछ लेंगे। सेठ परेशान होकर कहता है अच्छा उस आलेमें यह दूधका गिलास रक्खा है, ले आवो, दूध पी लें, फिर तुम्हें कुछ देंगे। नाई जल्दी पहुचा, गिलास उठाया और गिलासमें भरे हुए दूधमें देखा कि कोई चीज पड़ी हुई है तो झट बोल उठा, अरे सेठ जी इसमें कुछ पड़ा है। सेठ बोला—क्या कुछ पड़ा है? हाँ कुछ पड़ा है। अच्छा तो तू कुछ ही तो मागता था, वह कुछ तू ले। ले तो भाई उसे क्या मिला? कोयला। जो कुछ चाहता है उसे कुछ नहीं मिलता है। एक अपने आपको आकिञ्चनस्वरूपमें निरखना है, मेरा कहीं कुछ नहीं, मैं तो केवल चैतन्यस्वरूप हू तो इसे सर्व

कुछ मिल जाता है।

मोही मनुष्योंकी पशु पक्षियोंसे भी अधिक पराधीनता—देखो ये पशुपक्षी यहाँ फिर रहे हैं, कुछ खा रहे हैं, किसीने ललकार दिया तो यहाँसे और जगह भाग गए। तो ये पशुपक्षी बडे निर्लेप मालूम होते हैं। पर इस मनुष्यको कहीं जाना पडे तो कितना-कितना सामान इसे ले जाना पड़ता है? मुश्किलसे क्षेत्र छोड़ता है, कितनी कठिनाई होती है क्षेत्र छोड़नेमें? यह तो केवल ऊपरी उदाहरण कह रहे हैं, वे पशु पक्षी तो मनुष्यसे भी निम्न हैं, अज्ञानी हैं, लेकिन बाहरी बातें तो देखो—जरा सी आहट हुई कि फुर्र करके उड़ गए, उन पशु पक्षियोंमें तो कोई बन्धनकी बात नहीं दिखती है, लेकिन हम आप मनुष्य ऐसे बन्धनबद्धसे हो जाते हैं कि सब कुछ मुश्किल पड़ जाता है। जाना, रहना, उठना, बैठना—ये सब मुश्किल हो जाते हैं। जब चित्तमें कषायभाव भरा है तो यह कहाँ जायेगा, क्या करेगा? ज्ञान ही एक ऐसी प्रकट औषधि है जिससे चिन्ता शोक आदिक समस्त रोग दूर हो सकते हैं। हे आत्मन्! तू इन समस्त पदार्थोंसे अपने को भिन्न मान, उनमें अपना एकत्व मत समझ।

> मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं,
> भावान्स्वान्प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्न त्वया प्राक् चिरम्।
> सम्प्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेक परम्,
> स्वस्थं स्व प्रविगाह्य सिद्धि वनितावक्त्र समालोकय ॥१५५॥

मिथ्यात्वप्रतिबद्धता—हे आत्मन्! तू इस संसाररूपी गहन वनमें मिथ्यात्वके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ सर्वथा एकान्तरूप दुर्नयके मार्गमें भ्रम रूप होकर बाह्यपदार्थोंको अपना मानकर चिरकालसे खेद खिन्न होता चला आया है। अब तो समस्त भ्रमोंको दूर करके अपने आप ही मे रहने वाले इस चैतन्यस्वरूपका अवगाहन कर, सिद्धिके स्वरूपका स्पर्श कर। जितनी जो कुछ भटकनाएँ हैं, चिन्ताएँ हैं, क्लेश हैं उन सबकी जड़ है मिथ्यात्व भाव। निजको निज परको पर जान लें, फिर दुःखका कोई कारण ही नहीं रहता है। इस मिथ्यात्वके कारण इस जीवमें एक एकान्त विपरीत हठ हो जाया करती है।

भ्रमपूर्ण स्वपरका परिज्ञान—लोगोंने अपने अपने दायरेमें कौन कौन चीजमें कैसी अपनायत बनायी है कि उनकी दृष्टिमें जचता है कि इतना वैभव तो मेरा है और बाकी सब गैरका है। ये सब गैर है, यह भी सच्चाई के साथ नहीं जच रहा है। जैसे भ्रममे आकर अपने अधिष्ठित वैभवको अपना मान लिया, ऐसे ही भ्रममें आकर कुछ वैभवको दूसरेका मान लिया। यह कोई भेदविज्ञान नहीं है। मान लिया कि यह दूसरेका घर है, दूसरेका

शरीर है, दूसरा जीव है, ऐसा भर मान लेना यह भेदविज्ञान नहीं है क्यों कि इसने दूसरोंको यथार्थरूप से दूसरा नहीं माना। जैसे यह जीव अपने लगे हुए देहको 'यह मैं हूं' ऐसा मानता है इसी तरह परजीवोंके द्वारा अधिष्ठित देहको यह पर है, ऐसा मान बैठता है। तो जैसे अपने आपके बारे में देहमें और जीवमें एक आत्मीयता उपयोगमें लायी है। ऐसे ही दूसरोंमें भी देहमें और आत्मामें आत्मीयता उपयोगमें लायी है। इस कारणसे अपने देहको निरखकर 'यह मैं हूं' ऐसा मानना जैसे भ्रम है, ऐसे ही दूसरे मनुष्य आदिको निरखकर 'यह दूसरा जीव है ऐसा' मानना यह भी भ्रम है। यदि यह देहसे न्यारा चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपको समझकर फिर इस चैतन्यस्वरूपको माने कि यह मैं हूं तो वह विवेक है, ऐसे ही दूसरोंके प्रति भी इन शरीरोंसे यह भिन्न है, यह भी चैतन्यस्वरूपमात्र है, इस प्रकार निरखे तो वहाँ भेदविज्ञान समझिये।

जरासी बातका बड़ा बतगड़— यह तो मिथ्यात्वका अंधेरा ही है कि अपने देहको 'यह मैं हूं' यों मानना और दूसरे देहोंको देखकर यह दूसरा है ऐसा मानना। चिरकालसे खेदखिन्न होता हुआ यह चला आ रहा है, इसका मूल कारण केवल परकी अपनायत ही है, बात सिर्फ जरासी है और बतगड़ इतना बन गया है। बात कितनी सी है? यह उपयोग इसकी ओर न झुककर उस ओर झुक गया। बहुत थोड़ा सा अन्तर पड़ा है। उपयोग जीव प्रदेशमें ही है। कहीं यह उपयोग अपने आधारको छोड़कर बाहर नहीं चला गया। अपने ही घरमें रहते हुए यह उपयोग इसके उपयोगकी सूझकी प्रयोगकी पद्धति बहिर्मुखताकी बनायी गई है। यह अपने आपकी ओर न झुककर परकी ओर झुक गया।

बवण्डरकी जड़ जरासी बात—जैसे हम यहाँ बैठे हैं, इस ओर मुँह करे हैं और पीछेकी ओर मुंह करलें तो हमें कुछ ज्यादा अन्तर तो नहीं करना पड़ेगा। थोड़ा फिर गया। उपयोगमें इतना भी नहीं करना पड़ता। अपनी ओर झुके और परकी ओर झुकें—इन दो विलक्षण विरुद्ध बातोंके लिए इतना भी श्रम अथवा अन्तर नहीं करना पड़ता। जैसे इस शरीर वाले हम इस समय यहाँ देख रहे हैं और अब हम पीछे देखना चाहें तो उसमें हम जितनी प्रकट बदल करते हैं उतनी भी तो बदल नहीं है। इस उपयोगमें इतनी सी तो एक अन्य बात बनी और कर्मोंसे बंध गया, शरीर से घिर गया, नाना परतन्त्रताएं हो गयीं, इतना बड़ा बन्धन बन गया, बतगड़ बन गया। अब जन्म ले रहे हैं, मरण कर रहे हैं। कभी किसीको अपना माना, फिर किसीको अपना माना, यों मानकर ही हैरानी हो जाती है। हर भवमें पाये हुए समागम छोड़ने पड़ते हैं, नये समागमोंमें फिर

मोह करना पड़ता है । इतना विकट अतगड़, इतना विकट जाल इस जीव पर लगा है । उसमें कारण केवल इतना ही है कि यह परकी ओर झुक गया है ।

आत्मसावधानीका अनुरोध—भैया ! अब तो इस भ्रमका भार मिटा लो, यथार्थ बात पहिचान लो, अपने आपपर दया करलो, अपने आपकी रक्षा करलो । अपने आपमें वर्तमान इस उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपमें अवगाहन करके तू सिद्धवनिताका मुख देख, अर्थात मुक्तिमें कैसा आनन्द है ? उस आनन्दका अनुभवकर देखलो सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ता लिए हुए हैं । अपने-अपनेमें ही पूर्व पर्यायको विलीन करते हैं और नई पर्यायको प्रकट करते हैं । किसीका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है । तू भ्रमसे ही पर-पदार्थोंमें अहकार और ममकार करता है । सो जब यह अपना स्वरूप तू जान लेगा, सबसे न्यारे अपने आपमें सन्तोष करेगा तो परका उपद्रव आपके न आयेगा, यही एक अन्यत्व भावनाका फल है । हम यथार्थ विश्वास दृढ़ बनाये रहें कि हम परसे न्यारे हैं और अपने स्वरूपमें तन्मय हैं, इसमें रच भी सन्देह न करें । इस दृढ़ भावनाके प्रतापसे हम प्रत्येक परिस्थितिमें अन्तरङ्गमें सन्तुष्ट रह सकेंगे ।

निसर्गगलितं निन्द्यमनेका शुचिसम्भृतम् ।
शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपुः ॥१५६॥

शरीरकी असारता—अशुचि भावनाका अब वर्णन किया जा रहा है । अशुचि कहते हैं अपवित्रको अर्थात जो पवित्र न हो उसे अशुचि कहते हैं । यह शरीर घृणाका स्थान है । इस शरीरमें कहाँ कौनसी सार-भूत वस्तु है । रोम, चाम, खून, मज्जा, मांस, हड्डी, वीर्य मलसे लेकर व क्ष तक सभी पदार्थ अशुचि पड़े हुए हैं और फिर यह शरीर निसर्ग गलित है अर्थात स्वभावसे यह शरीर गलनेकी ओर ही रहता है । इस देहसे मल झरता रहता है, रोम रोमसे पसीनेके रूपमें अथवा जो मलके नवद्वार हैं उन द्वारोंसे मल झरता रहता है और फिर यह शरीर स्वय गलनेकी ओर रहता है, यह निंद्य है । मोहवश ही यह मोही प्राणी ऐसे अपवित्र शरीरको उच्च और रमणीक मानता है, किन्तु यहाँ रमनेके योग्य कुछ भी तत्त्व नहीं है ।

शरीरके स्नेहमें बन्धनका महा ऐब - भैया ! यह शरीर अपवित्र और अरम्य तो है ही, एक महा ऐब और है कि इसके स्नेहमें है व्यर्थका बन्धन व्यर्थका क्षोभ, नाना उपद्रवोंकी यातनाएँ । सभी प्रकारसे इस अशुचि शरीरका सम्बन्ध इस जीवका अहित ही करता है । अशुचि पदार्थोंसे तो यह शरीर भरा है ही, साथ ही यह भी समझिये कि यह शरीर उत्पन्न

कहाँसे होता है ? खून रज इनही के सम्बन्धसे तो इस शरीरका निर्माण हुआ है। तो जिस शरीरका स्थान भी अपवित्र है, जिस शरीरकी वर्तमान स्थिति भी अपवित्र है और भावी स्थितिमें भी मरनेके बाद यह शरीर पड़ा रहे तो वह कितना अपवित्र रहता है ? तो अपवित्रता प्रारम्भसे अन्त तक जिसमें बनी रहती है ऐसे शरीरके प्रति हे मुमुक्षु आत्मन् ! रति मत करो। यह शरीर रमने के योग्य पदार्थ नहीं है।

असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम्।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥१५७॥

शरीरकी अशुचिता व उसका मूल कारण—यह शरीर रुधिर मांस चर्बी से भरा हुआ सड़ रहा है, शीर्ण हो रहा है। कुछ अन्य सारभूत चीज हो फिर उसमें कुछ थोड़ा असार पड़ा हुआ हो ऐसा भी तो नहीं है। जो कुछ भी है शरीरमें वह सबका सब अशुचि पदार्थोंसे भरपूर है, स्वयं ही अशुचि है। इस प्रसंगमें एक बात यह भी समझियेगा कि ऐसे अशुचि शरीरको पानेका कारण क्या हुआ ? शरीर तो अशुचि लग रहा है, ठीक है, पर मूलमें अशुचि तत्त्व क्या है ? तो मूलमें अशुचि पदार्थ शरीर नहीं, किन्तु मोह है। लोकमें सबसे गंदी चीज क्या है ? शायद नालियां होंगी अथवा ये संडास, मलमूत्र वगैरह होंगे ? अरे सबसे गंदी चीज है मोह।

अस्पृश्यताकी प्रसिद्धिमें एक लोकप्रथा—लोकमें ऐसी प्रथा है कि किसी बालकका पैर नालीमें गिर जाय, विष्टामें पड़ जाय तो और बालक उसे छूते नहीं हैं, वह अस्पृश्य हो गया। वह नहाये, सब कपड़े बदले तब जाकर वह छूने योग्य होता है। वह लड़का किसी दूसरे बालकको छू ले तो उस दूसरे बालकको भी लोग नहीं छूते। वह भी अस्पृश्य हो गया, और वह दूसरा तीसरेको छू ले तो वह भी अस्पृश्य हो गया, इसी प्रकार तीसरा चौथे को चौथा पांचवेंको छू ले तो यों सभी अस्पृश्य माने जाते हैं, पर ये बालक जो अस्पृश्य हुए उसका आधार क्या, मूल बात क्या होती है ? जब इसका विवरण पेश किया जाय तो यही तो कहेंगे कि सबसे मूलमें छूत वह लड़का है जिसके पैरमें विष्टा पड़ा।

देहकी अस्पृश्यताके मूल कारणपर विचार—अब जरा यहां भी अछूत की जांच कीजिए, कौन है अछूत ? इन गंदी नालियोंकी कोई छींट पड़ जाय तो लोग उसे अशुचि मानते, पैर भिड़ जाय तो पूरा नहाना होता है। तो क्या ये नालियां गंदी हुई ? अरे उन नालियोंमें, उन संडासोंमें जो अपवित्र चीजें पड़ी हैं वे चीजें कहाँसे निकली हैं ? इस शरीरसे ही तो निकली हैं और यह शरीर कैसे बना है ? अरे जीवने इन शरीरों पर कब्जा किया जन्म समय तो उससे फिर यह शरीर बढ़ता गया तो

कब्जा किया जन्म समय तो उससे फिर यह शरीर बढता गया। तो नालियोंके अशुचि होनेका मूल मिला शरीर और शरीरका बन्धनका मूल मिला मोही जीव और इस मोही जीवमें कुछ जीवत्व तो अशुचिकी चीज नहीं है, किन्तु उसमें जो मोह बसा है वह अशुचि है। तो जो कुछ भी ये शरीरादिक, मलमूत्र आदिक अशुचि पदार्थ लोकमें माने हैं इन सबका मूल है मोह। जीवमें मोह न होता तो यह जीव शरीरोंको ग्रहण नहीं करता। यह जीव शरीरको ग्रहण न करता तो ये वर्गणायें आहार वर्गणायें अपने शुद्धरूपमें थीं ही, उनमें विकार क्यों आता ? शरीरकी वर्गणाओंमें विकार आया तो आज यह रूप बना। इसमें मल आदिक झरने लगे तो उन मल आदिकसे भी अस्पृश्य कौन है ? जिसका सम्बन्ध पाकर ये गंदी नालियां अशुद्ध कहलाने लगीं वह है अशुद्ध मोह। तो इन सब गदगियों का मूल हेतु है मोह। तो सबसे अधिक गंदी चीज मोह रही। ये विष्टा मलमूत्र आदिक नहीं रहे।

प्रयोजनवश शुचि अशुचिका वितर्क—अब और खुले दिलसे इसका निर्णय करें ये मास विष्टा आदिक पदार्थ जैसे हैं, हैं ठीक है, किन्तु इस जीवको अपनी विषयरुचिके कारण देह सुहावना लगता है और सभी प्रकट अशुचि दिखनेसे इन्हें बाधा जगती है इसलिए इन्हें अपवित्र माना है, इन जीवोंको सुहाती है सुगध और मिल रही है दुर्गन्ध, तो विषयरुचिके विरुद्ध बात होनेसे ये मोही जीव इन मल आदिकको अशुचि मान रहे हैं, पर उस वस्तुकी ओरसे ही देखो तो वह तो जो है सो है। उसमें क्या शुचिपना क्या अशुचिपना ? वह चीज है, पौद्गलिक है। वहां पुद्गलका कुछ बिगाड नहीं है। किन्तु जरा अपनेमें तो देखिये यह मोह महा अशुचि है जिसने ज्ञानानन्दके धाम इस परमात्मस्वरूपको बिलकुल ढक दिया है, इस ओर इसकी सुध भी नहीं हो पाती और विकल्पजालोंमें यह बढता चला जा रहा है, ये सब मोहके कारण ही तो हैं। तो मोह है गदा मूलमें, लोक व्यवहारमें गदे माने जाने वाले पदार्थ कुछ गदे नहीं हैं।

अशुचिभावनाका प्रयोजन—भैया ! मोह ही तीव्र गदा है। बात यों है, फिर भी अशुचि भावनामें शरीरकी अपवित्रताका वर्णन चल रहा है, वह भी एक वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए है। मोही जीवोंकी प्रीति इस शरीर से अत्यन्त अधिक है। तब पाये हुए शरीरसे और दूसरे जीवोंके शरीरसे इसे प्रीति जगी है, यह प्रीति न जगे ऐसा उपाय करनेमे इस शरीरकी अशुचिताका चिन्तन करना चाहिए। यह शरीर हाडोंका पजर है। किसी अत्यन्त दुर्बल पुरुषमें जहाँ हड्डी पसुलियाँ खूब स्पष्ट सी नजर आती हैं उसे देखकर तो कुछ कुछ समझमें आ जाता है कि यह हाडोंका पजर है।

केवल हड्डीकी फोटो ले ली जाय तो उसमें भी पञ्जर दिखता है। और कागजोंपर चित्रकारी कराकर केवल हड्डियोंका ढाचा बनाकर खड़ा कर दिया जाय तो वहा पर भी जँचता है कि यह हाडोंका अस्थिपञ्जर है।

अस्थिपिञ्जरके प्रति कामीकी कामना— मोही जीव जिस शरीरमें रति करते हैं वह शरीर क्या है ? हाडोंका पिञ्जर है। उन हाडोंके ऊपर मास और चाम चिपके हुए हैं जिससे इन हाडोंकी सही शकल नजरमें नहीं आती, लेकिन जो मास चाम वगैरह चिपके है वे सब भी अशुचि हैं। शुचिताका रच भी नाम नहीं है। कामके प्रसगमें जब इस जीवके मैथुन सज्ञाका उदय तीव्रताको धारण करता है तो इस जीवको लोकमें सबसे अधिक सारभूत यह शरीर ही जचा करता है। यह उसके तीव्र पापका उदय है। अश्रद्धा मिथ्याश्रद्धान, अविवेक, बेहोशी इनसे बढ़कर भी कुछ और महा पाप होता है क्या ?

देहकी अशुचिता ढकनेके लिये साज श्रृङ्गार—यह शरीर महा अपवित्र है, नसाजालसे बधा हुआ है। नसाजाल भी किसी किसीके शरीरमें बहुत स्पष्ट नजर आने लगते हैं। चामके भीतर रहकर भी नीली-नीली रस्सी जैसा बन्धन इस शरीर पर पड़ा हुआ दिखता है और यह शरीर अति दुर्गन्धित है तभी तो इसे इत्र फुलेल चाहिए, क्योंकि शरीरकी दुर्गन्धता तो ढकना है और इस शरीरको सजानेके लिए बडे सुहावने कपडे चाहिये, गहने चाहियें, क्योंकि इस शरीरकी पोल तो ढाकना है। महा गदा शरीर है, अशुचि पदार्थोंको बहाने वाले ऐसे शरीरमें मोही जीवोंकी रुचि जगती है।

अशुचि शरीरके प्रति हितमय उपयोग—भैया ! है यह गदा शरीर, किन्तु इस गदगीका उपयोग वैराग्यके लिए करना चाहिए था, पर जिसके ज्ञाननेत्र फूट गए हैं ऐसे मोही पुरुष इस अपवित्र शरीरका उपयोग सही दशामें नहीं कर पाते हैं। वे तो विषयसाधनोंमे इस शरीरको लगा देते हैं। एक कविकी कल्पनामें मान लो इन कर्मोंने तो हम आपपर दया करके ऐसा अपवित्र शरीर दिया है। कहीं यह देवों जैसा शरीर पा लेता तो इसे वैराग्यका कहा अवसर आता ? यह गदा शरीर मिला है तो इससे वैराग्य की ओर प्रेरणा मिलती है। तो मिला तो शरीर एक वैराग्य उत्पन्न करने के लिए, किन्तु यह शरीरी ऐसे अपवित्र शरीरसे भी रागका काम करता है। ऐसा यह दुर्गन्धित शरीर क्या कहीं प्रशसाके योग्य है ? यह तो सर्वत्र निन्द्य ही दिखता है, ऐसे शरीरमें रति मत कर। और अपने आपमें बसे हुए पवित्र चैतन्यभावका अवलम्बन ले।

प्रस्रवन्नवभिर्द्वारैः पूतिगन्धान्निरन्तरम्।
क्षणक्षय पराधीन शश्वन्नरकलेवरम् ॥१५८॥

देहकी मलस्रावणता—यह मनुष्यका कलेवर ढांचा शरीर नवद्वारोंसे जो कि निरन्तर झड रहा है, जहाँसे अशुचि पदार्थ ऐसे नवद्वारों से निरतर झरते रहते हैं, जरा हिम्मत है ना, शरीरमें वल है इसलिए मल डटा हुआ है। नाकमे भरी तो सबके है नाक, पर वह नाक डटी हुई है क्योंकि ताकत है शरीरमें। वृद्धावस्थामें लार वहने लगे, मुखसे नीचे टपक पडे क्योंकि अब उस अवस्थामें शरीरमें वल नहीं रहा इसलिए अब यह मल डट नहीं सकता। सो वलके कारण मल डटे हुए हैं सव जगह, पर मल भरे हुए ही हैं अंदर। यह शरीर तो मलोंका घर है। मलोंको ही उत्पन्न करता है, मलोंसे ही उत्पन्न हुआ है।

देहकी क्षणक्षयिता व पराधीनता—यह शरीर क्षणक्षयी है, क्षणभरमें विध्वंस होने वाला है, पराधीन है। यह शरीर अपने आप वना तो अपने ही परिणमनमें किन्तु जीवका संबंध होना, कर्मोंका उदय होना आदिक अनेक बातोंसे यह पराधीन है, ऐसा यह नरकलेवर है, जिसको यह मोही जीव अपनाया करता है। इस शरीरमें पराधीनता भी कितनी है ? अन्न पानी न मिले तो यह शरीर मुरझा जाय और जीवका सम्बंध हो, कर्मोदय वाले जीवका वैसा सम्बध हो तो इस प्रकारके आकारको ये वर्गणायें धारण कर लेती है। ऐसे पराधीन अपवित्र क्षणभरमें नष्ट होने वाले शरीर से प्रीति करना व्यर्थ है। यह शरीर रहेगा नहीं, अर्थात् जीव निकल जाने के बाद यह शरीर सड़ जायेगा, जल जायेगा, गल जायेगा, किसी भी अवस्थाको प्राप्त हो लेगा, रहेगा नहीं यह शरीर। साथ ही यह शरीर दु:खका कारण हैं वन्धनका हेतु है, विपदा और उपसर्ग जिसके कारण आया करते हैं, ऐसे शरीरमे प्रीति करनेमें क्या हित है ?

क्रमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महता रतिः ॥१५९॥

शरीरकी कृमिजालाकीर्णता व रुग्णता—यह शरीर सैकड़ों कृमिजालों से भरा हुआ है। डाक्टर लोग भी बताते हैं इसके खूनमें कितनी कृमि हैं अथवा वे सब कृमिजाल ही तो हैं, कीड़ोंका समूह ही वह सब खून है, और यह शरीर रोगोंके समूहसे पीड़ित है। इसमे कोई एक रोग है क्या ? इसमें करोड़ों रोग होंगे। सैकड़ों रोग तो अपने आपपर बीत गए हैं और हजारों रोग ऐसे चल रहे हैं कि जिनका हमें पता नहीं पड़ता और शरीर में चल रहे हैं रोग। जब कभी कोई विरुद्ध प्रसंग उपस्थित हो जाय तो शरीरमें कितनी बाधायें आ जाती हैं, जुखाम हो गया, खासी हो गयी, सिरदर्द है, पेटदर्द है, बुखार हो गया, फुसिया हो गयीं, खाज हुई, दाद हुआ, यों सैकड़ों हजारों रोगोंसे पीड़ित यह शरीर है।

शरीरकी रुग्णताका समर्थन—भैया ! एक भी शरीर ऐसा कहींसे लावो अथवा कोई भी मनुष्य ऐसा पेश करो जिसमें किसी भी प्रकारका रोग न हो। भले ही चूँकि और और रोगी पुरुष बहुत हैं, उनके मुकाबले वे रोग वहाँ दिखते नहीं है सो निरोग कह दें, पर सही मायनेमें किसी भी पुरुषको नीरोग नहीं कहा जा सकता। किसी न किसी प्रकारका रोग प्रत्येक मनुष्यमें मिलेगा। भले ही कोई पहलवान बहुत तगड़ा है, उसकी जठराग्नि भी तेज है और किसी प्रकारकी उसे पीड़ा नहीं होती, ऐसा स्वस्थ मजबूत शरीर भी हो तो भी वहाँ खूब निगरानी करके कोई देखे तो अनेक रोग उस शरीरमें भी मिलेंगे। यह शरीर रोगसमूहसे पीड़ित है।

शरीरकी जर्जरितता—यह शरीर बुढ़ापेसे जर्जरित हो जाता है। बच्चोंको ऐसा लगता होगा किसी अधबूढ़ेको निरखकर कि क्या है यह ? दाँतोंमें जब सींक डालता है वह अधबूढ़ा पुरुष भोजनका जो कुछ भर गया है उसे दूर करनेके लिए तो बच्चे लोग कुछ मनमें हँसते होंगे। क्या किया जा रहा है यह, क्योंकि उनके तो अभी सघन दंत हैं, उन्हें सींककी जरूरत नहीं पड़ रही है अथवा जब वृद्ध लोग चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं तो ये बच्चे लोग कुछ हँसी मजाक भी करते होंगे, लेकिन कोई भी शरीर बुढ़ापे से दूर नहीं रह सकता यदि वह बराबर जीवित रहता है तो। जरासे जर्जरित काया है यह। ऐसे असार शरीरमें बड़े पुरुषोंकी कैसे रुचि हो सकती है ?

शरीरसौन्दर्यकी अज्ञानकल्पितता—जिन्हें भेदविज्ञान नहीं जगा, जो शरीरको ही आत्मा समझते हैं और इसी कारण जो चारों संज्ञावोंके ज्वर से पीड़ित हैं ऐसे मोहीपुरुष इस शरीरको बड़ा सुभग स्वरूप निरखा करते हैं। अरे एक आकार ही तो है, किसी का नाक जरा ऊपर उठ गयी, किसीकी जरा लम्बी खिंच गई, किसी की नाकके छिद्र कुछ छोटे हैं, किसी के कुछ बड़े हैं, क्या है वहाँ, एक आकार ही तो बन रहा है। वहाँ सुन्दरता का नाम क्या ? जो अशुचिका पिण्ड है उस पिण्डमें फिर एक स्वरूपसे परखना, सुन्दरताका निर्णय करना, यह सब मोहमें ही हुआ करता है। ज्ञानी पुरुष ऐसे अविवेकमें नहीं फँसते।

शुचिविज्ञानसे अशुचिभावनाकी सफलता—इस अशुचि भावनामें शरीर की अशुचिता बतला रहे हैं, किन्तु इस अशुचि भावनाके साथ साथ यह भी ज्ञात होना चाहिए कि क्या संसारमें सभी पदार्थ अशुचि अशुचि ही हैं, कुछ पवित्र नहीं है क्या ? यदि नहीं है कुछ पवित्र, तो अशुचिके गान से लाभ क्या ? अशुचिसे हटकर शुचिमें पहुंचे, इसके लिए किसीको अशुचि बताया जाय तब वह ठीक है तो समझिये शुचि है और पवित्र है वह पदार्थ अपने आपमें अनादि अनन्त सहजसिद्ध यह चैतन्यस्वरूप। इस

शुचिका आश्रय लें और इन सर्वअशुचियोंसे निवृत्त हों।

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते।
तत्तत्सर्वं घृणा दत्ते दुर्गन्धमिध्यमन्दिरे ॥१६०॥

शरीरकी घृणास्पदता—इस शरीरमे जो जो पदार्थ हैं साधु बुद्धिसे विचार करने पर वे सब घृणाके स्थान तथा दुर्गन्धित मलके घर ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् इस शरीरमें कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है। शरीरकी सुन्दरताको निरखनेमें साधक है राग भाव, काम भाव और शरीर जैसा है उस ही प्रकार नजर आये इसका कारण है वैराग्यभाव। एक कथानक प्रसिद्ध है पुराणमे कि कोई राजपुत्र एक सेठकी वधू पर आसक्त हो गया, उसने दूती भेजी तो वधू कहती है कि अच्छा आजसे १५ दिन बाद राजपुत्र आ जाय। वधू ने क्या किया कि उस ही दिनसे जुलाब लेना शुरू किया और एक मटकेमें शौच करती जाय। १०-१२ दिनमें उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। राजपुत्र आया तो उस वधूको देखकर आश्चर्यचकित हो गया जो १५ दिन पहिले सुन्दर देखा था, यहाँ तो कुछ भी नजर नहीं आ रहा। हड्डी निकली, बिल्कुल ढाँचा ही बदल गया, देखनेमे डर लगे, ऐसी शकल उस वधूकी बन गई थी। तो वधू कहती है—राजपुत्र तुम क्यों सोच विचारमे पडे हो? तुम जिस सुन्दरता पर आसक्त थे चलो वह सुन्दरता हम तुम्हें दिखायें, उस सुन्दरतासे तुम प्रेम करो। जहाँ शौचसे भरा हुआ घड़ा रखा था वहां ले जाती है और कहती है देखो इसमें हमारी सुन्दरता भरी है। वहा देखा तो बड़ी दुर्गन्ध थी और ऐसे वातावरणसे ऊबकर वह राजपुत्र तुरन्त वापस चला आया।

सुन्दरताकी मात्र कल्पना—भैया! जो सुन्दरता नजर आती है वह भीतर मल भरा है और भी अशुचि पदार्थ हैं, उनकी ही तो खूबी है। सुन्दरता और किसका नाम है? हृष्टपुष्ट शरीर भी कान्तिमान् शरीर भी वैराग्यसे वासित हृदय वालेको अरम्य जचता है और दुर्बल जैसी चाहे शकलका भी शरीर हो, कामी पुरुषोंको सुन्दर और सर्वस्व जॅचता है। कहा है सुन्दरता और असुन्दरता? जैसे जो पुरुष बडे मजेमें रह रहा है उसे सब जगह लगेगा कि मजेमें है, मजेका ही वातावरण है ऐसा नजर आता है। जब इष्टवियोग आदिक किसी कारणसे दुःख हो जाय, दुःखी रहा करे तो उसे सब जगह लोगोंकी स्थिति मुद्रा सब कुछ दुःखमय विदित होती है, लो सभी दुःखी है, ऐसे ही जब चित्तमें राग और उद्भ्रम उत्पन्न होता है तो अन्य शरीर ये सब शरीर उसे सुन्दर और हितरूप मालूम पडते हैं? और जब यह राग नहीं रहता, विवेक जगे, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो तो ये सब शरीर मायामय यों ही निमित्तनैमित्तिक भावमें मिल गए, ऐसे ही अटपट नजरमें आते हैं। जो जो भी पदार्थ इस शरीरमें

देखा होगा किसी पशुका, बूढ़े बैलका, गधेका, घोड़ेका शरीर कि जिसका चमड़ा जगह-जगह छिला हुआ होता है, जगह जगह मास दिखता है, मास जमीनपर टपकनेके सम्मुख है, ऐसे पशुपर चारों ओरसे पक्षी टूट पड़ते हैं। वहा वह पशु क्या करे, कौन रक्षा करे, वह दुःखी होता है। कल्पना करो कि हम आपके शरीरके ऊपर यह चमड़ेका चादर न लगा होता तो इसका प्रकट रूप कैसा होता? कभी किसी हाथमें किसी जगह २-४ फुंसिया हो तो जायें, इसीसे ही बड़ी घृणासी लगती हैं और दूसरे की फुंसियोंको दूसरा निरख नहीं सकता, खुदके शरीरमें हो गया रोग तो इस शरीरको कहाँ डालें, स्वय सह लेंगे, मगर दूसरोंके शरीरमें ऐसा खून टपकता हो, फुंसियाँ अधिक हों ऐसा ही ग्लानिका रूप सामने हो तो उसे पसद नहीं करता। यदि इस शरीरपर यह चमड़ा न ढका होता तो मक्खी, कीड़ा, कौआ आदिकसे इस शरीरको बचानेके लिए इसकी रक्षा करनेके लिए कौन समर्थ होता?

मोहके बिना शरीरकी अरक्ष्यता—यह तो एक सीधी सी बात कही गयी है। अब अध्यात्मत्व देखिये—इस घृणास्पद अपवित्र शरीरको निरखकर ज्ञानी विवेकी सत्पुरुष जब इस शरीरको दूरसे ही छोड़ देते हैं, अपने उपयोग में इसको स्थान नहीं देते हैं तब फिर इस शरीरकी कौन रक्षा करे अर्थात् शरीरसे वैराग्य जग जाय तो फिर यह शरीर टिक नहीं सकता। कभी ही निकट कालमें इस शरीरके फन्देसे यह जीव अलग हो जायेगा।

मोहियोंकी मोहवृत्तिमे चर्मका उपकार—यह सब जो लौकिक व्यवहार राग व्यवहार, यहाँ संसार चल रहा है इसमें इस शरीर पर लगे हुए चमड़े का भी बड़ा सहयोग है। इसके कारण राग बढ़ता है, क्योंकि चमड़ेके भीतर जो कुछ शुचि अशुचि पदार्थ हैं वे तो इन इन्द्रियविषयाभिलाषी पुरुषोंकी नजरमें रहते नहीं हैं, किन्तु ऊपरसे ही इतना साफ नजर आता है और ऊपरसे तो कुछ है भी साफ सा। यदि कल्पनामें ही यह आ जाय, कोई अपनी नाकको खुजा रहा हो, उसे ही देखकर चित्तमें यह आ जाय कि यहाँ भरा तो यह है मल, तो कल्पनामें यह बात समझमें आते ही रागमें अन्तर हो जाता है। भूधरदास जी ने कहा है ना, 'दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पीजड़ा देह। भीतर या सम जगत्में और नहीं घिन गेह॥' खूब निरख लो—इस शरीरके समान घिनावना घर और कहीं न मिलेगा। ये चौकी, घड़ी, लालटेन काच जो जो कुछ दीख रहे हैं ये सब शुचि हैं, इनमें अशुचिताका कारण नहीं है लेकिन यह शरीर इन अजीवोंसे भी बदतर है, इतना बुरा हाल है। प्रथम तो ये सब स्थावर शरीर हैं। स्थावर शरीरोंमें हड्डी नहीं होती। जैसे पृथ्वी, जल, आग, वायु और वनस्पति ये कितने

सुहावने लगते है, किन्तु यह त्रसकाय, कीड़ों मकौड़ोंका शरीर हम आपका शरीर इसमें शुचिपनेका नाम ही नहीं है। मूलसे अन्त तक सारा शरीर अशुचि पड़ा हुआ है, इस शरीर पर चमड़ा न होता तो यह खुदको ही बड़ा भारसा लगता और इसे कीड़ा पक्षी आदिक भी सब चोट ले जाते।

उभय था शरीरकी अरक्षा—ज्ञानीपुरुष तो ऐसे ऊपरके चापड़े शरीर मुद्राको निरखकर उसमें आसक्त नहीं होते है जैसे अशुचि पदार्थ ऊपर निकल आयें मांसादिक तो पक्षियोंसे इसे बचानेके लिए कौन समर्थ है? अर्थात् सामर्थ्य न हो पायेगी किसी की भी कि किसीके शरीरको उस आक्रमणसे बचाले। चारों ओरसे पशु और पक्षी मास भक्षी जीव इस शरीर पर ढा पड़ते हैं, इसकी रक्षा कोई नहीं कर सकता है तो अब यहां अध्यात्मयोगकी बात निरखिये जो अध्यात्मयोगी सत इस शरीरको अपवित्र जानकर इससे परम उपेक्षा करके अलग रहते है उपयोगमें, अब उस शरीरकी भी कौन रक्षा करे? वह शरीर भी शीघ्र विलय हो जायेगा और आगेके लिए भी कभी इसे शरीर न मिल सकेगा। केवल सिद्ध सर्वज्ञ और अद्भुत आनन्दको भोगने वाला ही रहेगा।

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम्।
सर्वदा पतनप्रायां देहिना देहपञ्जरम्॥

देहके तीन ऐब—इस जीवका देहरूपी पींजड़ा सदा ही रोगसे व्याप्त रहा है, सदा ही अशुद्धतावोंका घर बना रहता है और सदा ही पतन होने के स्वभाव वाला है। इस देहमें ये तीन ऐब बताये गए हैं इस श्लोकमें। प्रथम ऐब तो यह है कि यह शरीर रोगोंसे भरा है। प्रथम तो देह ही रोग है। आत्माको बरबाद करने वाले फिर देहमें अनेक रोग पड़े हुए हैं। वात पित्त कफकी समानता बनी रहे ऐसा होना तो कठिन सी बात रहती है ना। कुछ न कुछ विषमता रहा ही करती है तब वहा रोग उत्पन्न होता है। दूसरा ऐब है इस देहमें कि यह अशुचि पदार्थोंका घर बना हुआ है। जैसे घरमें सब लोग रहते हैं ना ऐसे ही इस देहमें अशुद्ध अपवित्र पदार्थ रहा करते हैं, तीसरा ऐब है इस देहका कि यह मरण कर जाने वाला है। यदि ये मनुष्य न मरते होते तो आज क्या हाल होता? पैदावार तो बराबर चलती रहती और मरण किसीका न होता तो फिर क्या हाल होता। प्रथम तो अभी भी यदि सभी मनुष्य खड़े न रहें, लेट जायें तो यहीं जगह सबको लेटनेको न रहेगी। अभी यहा इतने बैठे हैं, यदि सब लेट जाये तो यहीं इन सबका समाना कठिन हो जायेगा, फिर मरण न करे कोई, सभी जीवित रहें तो कहीं ठिकाना ही नहीं मिलता। तो देहमे तीसरा ऐब यह है कि यह सदा पतनकी ओर उन्मुख रहा करता है। यों

यह देहरूपी पींजड़ा ३ ऐबोंसे भरा हुआ है—रोग, अशुद्धता और मरण ।

शरीरकी प्रीतिमें विडम्बना—भैया ! कभी भी यह सम्भावना और शंका न कीजिए कि किसी भी कालमें तो यह शरीर उत्तम और पवित्र हो जाता होगा । कभी कदाचित् हो जाय देव शरीर पाकर, लेकिन वहां भी दुःख बहुत पड़ा हुआ है और फिर सदा रहने वाला नहीं है । उसका भी मरण होगा । ऐसे असार शरीरका स्वरूप समझकर इससे प्रीति हटावो । प्रीति लगावो अपने आत्माके सहजस्वरूपमें जो सदैव अपने पास है, जिसकी दृष्टि न होनेसे संसारकी विडम्बनाएँ बनती हैं और जिसकी दृष्टि होने पर ये विडम्बनाएँ समाप्त हो जाती हैं, उस पवित्र निज अतस्तत्त्वकी उपासना करनेमें ही अपना कल्याण है ।

तैरेव फलमेतस्य गृहीत पुण्यकर्मभि ।
विरज्य जन्मन स्वार्थे यैः शरीर कदर्थितम् ।।१६४।।

नरदेहप्राप्तिकी सफलताके अधिकारी—इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्होंने ही प्राप्त किया है जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर अपने कल्याण मार्गमें पुण्यकर्मोंको क्षीण किया है । यह शरीर अशुचि है, असार है, पतनोन्मुख है, अहित है, भिन्न है तिस पर भी जो पुरुष इस शरीरसे आत्माका काम सिद्ध करते हैं अर्थात् आत्माकी सावधानीके लिए इस शरीरसे तपश्चरण करते हैं और उन पवित्र तपश्चरणोंसे शरीरको क्षीण करते हैं उन्होंने ऐसा शरीर पानेका फल पाया है । शेष जो लोग इस शरीर को निरखकर विषयसाधनोंमे ही इसे लगाते हैं और इन्द्रियजन्य मौजोंमें अपना समय गुजारते हैं उन्होंने इस दुर्लभ मानवजन्मको पाकर इसे यों ही खो दिया समझिये ।

शरीरकी शीर्णशीलता—शरीर तो शरीर ही है अर्थात् शीर्ण होने वाला है, कभी मिटेगा, कभी बिखरेगा यह बात सबकी निश्चित है । जन्म लेने वाले कोई भी प्राणी ऐसे नहीं हैं कि जिनका शरीर अमर हो, सदा रहे । शरीरका तो धर्म ही यह है कि यह जब चाहे अचानक नष्ट हो जाय । तब ऐसे नष्ट होने वाले शरीरको यदि न नष्ट होने वाले आत्मस्वभावमें लगा दें तो इससे बढ़कर शरीरका और क्या उपयोग हो सकता है ? जो भोग और उपभोगोंमें ही रमते हैं उनका भी शरीर नष्ट होगा, बल्कि जल्दी ही नष्ट होगा । वे तो अकाल मरणका उपाय बनाते हैं ।

शरीरका सत् उपयोग—शरीरको भोग उपभोगमें लगाओ तो नष्ट होगा और तपश्चरण करा तो भी शरीर कभी नष्ट होगा । नष्ट तो होना ही है, पर शरीरका प्रेम बनाकर, विषयोंकी आसक्ति बनाकर इस शरीर को रखा तो उसमें क्या तत्त्व है ? आखिर यह जीव विकारी ही बना

रहा, जन्म मरणकी परम्परायें ही चलाता रहा तो इससे इस जीवका लाभ क्या होगा ? आ मस्पर्शमें यह उपयोग लगा ले तो यह आत्महितकी बात होगी। यों इस बातके लिए इस श्लोकमें प्रेरणा दी है कि इस असार शरीरसे सारभूत आत्माका काम निकाल लो।

शरीरमेतदादाय त्वया दु:ख विसह्यते।
जन्मन्यस्मिस्ततस्तद्धि नि शेषानर्थमन्दिरम् ॥१६५॥

मानसिक दु खोंका कारण शरीरसम्बन्ध—हे आत्मन्! इस संसारमें तूने इन शरीरोंको ग्रहण करके दु:ख पाये हैं अथवा सहे हैं, इससे तू निश्चय कर कि यह शरीर समस्त अनर्थोंका घर है। इस शरीरके संसर्गसे सुखका लेश भी नहीं हो सकता। खूब विचार लो, जितने प्रकारके क्लेश हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। मानसिक दु:ख हों तो शरीरका सम्बन्ध है तब ही तो मानसिक क्लेश चलेंगे, बिना शरीरके मन टिका कैसे रह सकता है ? मन तो शरीरका अन्त:द्रव्य है। अन्त' में जो एक विकल्प बनता है उस विकल्पसे जो क्लेश मिलते हैं उन क्लेशोंका कारण यह शरीर ही तो हुआ। प्रकट बहुतसी चिन्ताएँ इस शरीरके कारण हैं। किसीको धन बढ़ानेकी चिन्ता है तो इसी कारण है कि शरीरमे उसका प्रत्यय है, लगाव है और इस शरीरके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व समझता है। दुनियामें इस शरीरकी मूर्तिको ही आपा मानकर इसका यश कराना चाहते हैं, इन सब विडम्बनाओंके फलमें धन अर्जित करनेकी चिन्ता लग जाती है और इसीसे यश आदिकी चिन्ता और इसीसे अपमान सन्मान माननेका ढग सारे क्षोभ इस शरीरके सम्बन्धसे ही तो हुए।

मर्मभेदी वचनोंके दु खका कारण शरीर सम्बन्ध—वाचनिक दु:खकी बात देखो—किसीने दुर्वचन बोल दिया तो इस आत्माको वे * दुःख हो गए। यह भी बात शरीरको अपनाया तभी बनी। कल्पना उठ गई कि इसने मुझे दुर्वचन बोला। अरे जो मैं हू परमार्थसे, वास्तविक मायनेमें वह तो अमूर्त है, उसमें तो वचन प्रवेश ही नहीं करते, वह तो सबसे अपरिचित हैं, वहां कहा वचनोंका प्रवेश है ? वचनोंका प्रवेश तो इस मोही जीवने अपनी कल्पनामे माना, उस मोहीने ही, जो कि इन शरीरधारियों से ममत्व रखता है। उसने मुझे यों कहा ऐसा माननेमें उसने अपनी आत्माको नहीं माना, किन्तु असमानजातीय द्रव्यपर्याय की इस शरीरकी मुद्रा तभी बनी। कल्पना उठ गई कि इसने मुझे दुर्वचन बोला। अरे जो मैं हू परमार्थसे वास्तविक मायनेमें वह तो अमूर्त है, उसमें तो वचन प्रवेश ही नहीं करते, वह तो सबसे अपरिचित है, वहा कहा वचनोंका प्रवेश है ? वचनोंका प्रवेश तो इस मोही जीवने अपनी कल्पनामे माना, उस मोहीने ही, जो कि इन शरीरधारियों से ममत्व रखता है। उसने

मुझे यों कहा माननेमे उसने अपनी आत्माको नहीं माना, किन्तु असमान-जातीय द्रव्यपर्यायकी इस शरीरकी मुद्राको निरखकर यह मोही मान रहा है कि मैं यह हू। ऐसा जब शरीरको माना कि यह मैं हू तो वे वचन लगने लगे और यह मानसिक दु खोंका विस्तार बन गया। जब कभी परस्परमें तीव्र कलह हो गया, उस कलहमे दोनों ही ओरसे बड़े तीक्ष्ण वचन बोले जाते है मर्मभेदी। वे वचन तभी तो बोले जा रहे है जब कि एक दूसरेको इस शरीररूपमे ही समझ रहे है और अपनेको भी शरीर रूपमें ही समझ रहा है वह वाचक। तो जितने विवाद है, दु ख हैं वे सब भी इस शरीरके सम्बन्धके कारण हो रहे है।

शारीरिक दु खोंका कारण शरीर सम्बन्ध—शरीरिक जितने क्लेश हैं, रोग हुआ, भूख प्यास लगी, कठोर स्थान सोनेको मिला अथवा रहनेका स्थान बढ़िया नहीं है, डास मच्छर काट रहे हैं आदिक जो शरीर-सम्बन्धी क्लेश होते है उन क्लेशोंका कारण भी तो यह शरीर ही रहा। शरीर न हो तो किसी भी प्रकारसे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डास, मच्छर आदिक के क्लेश नहीं रह सकते है। यद्यपि शरीर आत्माका धर्म नहीं, स्वभाव नहीं, परिणमन नहीं, किन्तु अनादिकालसे मोहमलीमस इस आत्मामें जो कर्मोंका और विभावोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है उस सम्बन्धसे अवरुद्ध होकर यह जीव विडम्बनाओंको धारण कर रहा है। शारीरिक समस्त क्लेशोंका मूल भी यह शरीर है। यों सर्वप्रकारके क्लेश जो सहे गए है उन सबका कारण शरीर ही है, तभी यह सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थोंका घर यह शरीर है।

मोहमे ऐबकी वृद्धिके लिये चतुराईका प्रयोग—देहधारियोंके आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये सब ऐब लग रहे हैं। ये सब ऐब सभीमें पाये जाते है, पर एक आश्चर्यकी बात तो देखिये—जो जितना चतुर बुद्धिमान, विद्यावान बन जाता है वह यदि मोहसे मलीमस हो जाता है तो उसकी यह विद्या विकास, वे सब चतुराइया अनर्थको ही बढ़ाने वाली बन जाती है। सुलझानेके लिए यह विद्या समर्थ नहीं हो पाती है, प्रत्युत उलझाती ही है। सो अनुभव करके भी देख लो, जितना जितना अधिक किसी विद्याका विकास होता है, किसी विषयमें एक चतुराई बढ़ गयी तो उस चतुराईका उपयोग यह जीव अलकारिक ढगसे विषयोंके भोगमें किया करता है।

आहार और भय सज्ञाकी विडम्बनामें मोही मानवोंकी पशुओंसे अग्रता—भैया! जरा तुलना करके देखलो कि यह मनुष्य इन बातोंमें पशुवोंसे भी गया बीता बन जाता है। पशुका पेट भरा हो तो कुछ भी डालो खानेके लिए उस ओर वह देखता तक भी नहीं है, किन्तु मनुष्य भरपेट भोजन

करके भी आया हो, पर कहीं कोई रसीली चाट मिठाई कुछ चीज मिल जाय तो तोला दो तोला खानेके लिए तो जगह सदैव बनी ही रहती है। पेटमें भी जगह नहीं है तो मुँहमें रखकर उसका स्वाद लेनेके लिए कौन रोकता है, चलो स्वाद ही आता रहेगा और पान इलायची तो जब चाहे खाता रहता है पेट भरा होनेपर भी। इसकी आहार संज्ञा बड़ी गजबकी हो रही है। डरकी बात देखो तो पशुको इतना डर नहीं है। मानलो आज कल बड़े देश कलह हो रहे हैं, दूसरे देश हमलावर बन रहे हैं, ऐसे हमलों में आपको गाय और बछियाकी क्या चिन्ता? कुछ गड़बड़ हो जाय, प्राण चले जायें तो चले जायें पर कुछ चिन्ता नहीं है, और इस मनुष्यको बड़ी चिन्ताएँ लग रही हैं। पशुवों पर कोई लाठी लेकर ही आ जाय, कोई मारने आ जाय तो उनको भय उत्पन्न होता है अन्यथा वे जहाँ हैं तहाँ ही निर्भय बने रहते हैं। भयसंज्ञासे भी यह मनुष्य जितना जो चतुर है उतना ही अपना भय बढ़ाये हुए है।

मैथुन और परिग्रह संज्ञाकी विडम्बनामें मोही मानवोंकी पशुओंसे अग्रता—मैथुन संज्ञाकी बात भी बड़ी गजबकी है। पशुवोंमें भी उनकी ऋतुवें हैं मैथुनकी, पर मनुष्यकी ऋतुवोंका कोई विचार नहीं। बहुत ही जब तीव्र वेदना होती है कामविषयक तभी ये पशु मैथुनसंज्ञामें प्रवृत्त होते हैं, पर यह मनुष्य बना बनाकर, चाह चाह कर इच्छायें बढ़ाता है और उन संज्ञावोंमें लगता है। परिग्रह संज्ञाकी बात भी बड़ी विचित्र है। सभी लोग जानते हैं। पशुवोंके कहाँ कोई परिग्रह है, कहीं किसी पशुको अपने खानेके लिए कुछ संग्रह करके रखते हुए देखा है? अरे वे पशु कुछ भी जोड़कर नहीं रखते, जब जैसा जिस जगह मिल गया खा लिया। एक प्रवृत्तिकी बात कह रहे हैं। कहीं इसका यह अर्थ नहीं है कि तब तो इस स्थितिमें पशु मनुष्योंसे अच्छे हैं। अरे चाहे पशु हो, चाहे मनुष्य हो, जितने अंशोंमें इच्छावोंका निरोध है उतना ही वह सन्तुष्ट है और सुखी है। पर बाहरी बातें जो कि हमारे विभावोंके आश्रय स्थान बनते हैं उनकी बात कही जा रही है। देखलो ऊपरसे इन परिग्रहोंकी दृष्टिसे ये मनुष्य पशुवोंसे कहीं अधिक हानिमें पड़े हुए हैं। कितने महल खड़े किये, कितना वैभव जोड़ा, लखपति हुए तो करोड़पतिकी चाह। करोड़पति हुए तो अरबपतिकी चाह और उस चाहकी पूर्तिमें अन्याय हो, कुछ हो, जिस चाहे तरहसे लगे रहना, ये सब बातें मनुष्योंमें देखी जा रही हैं।

निद्रामें मनुष्योंकी पशुओंसे अग्रता—यह तो संज्ञावोंकी बात कही है। एक निद्राकी बात इससे अलग और बढ़कर है। निद्रामें भी यह मनुष्य पशुवोंसे, पक्षियोंसे अधिक हानिमें है। ८ बजे रातके बाजे भी बजकर निकल

जायें तो भी कहो किसी-किसी मनुष्यकी नींद न खुले, पता ही नहीं पड़ता, किन्तु कुत्ता बिल्ली गाय घोड़ा सभी पशुवोंकी बात देखलो, जरासी आहट होने पर तुरन्त आँखें खुल जाती हैं। कोई दबे पैर भी इन सोये हुए जानवरोंके पाससे निकल जाये, इतनेमें ही आँखें खुल जाती हैं।

मनुष्यकी महत्ताका कारण—किस बातसे यह मनुष्य बड़ा है इन पशुवोंसे सो तो बतावो ? एक धर्मपालनमें यह मनुष्य बड़ा है। मनुष्य संयम पाल सकता है और ऊहापोहात्मक तत्त्वज्ञानमें भी बढ़ सकता है, अतएव मनुष्य उत्कृष्ट है। जिस दिशामें मनुष्य उत्कृष्ट है, ऊँचा है उस दिशामें मनुष्यका प्रयत्न नहीं होना, फिर मनुष्यका मनुष्यपना रहा ही क्या ? मुख्य काम तो है अपना अपने आत्माका हित करना, शरीरपोषण का नहीं। शरीर तो भव भवमें मिला। समस्त कष्टोंका, समस्त अनर्थोंका मूल यह शरीर है। इसके सम्बन्धमें सुखका लेश भी कभी हो नहीं सकता। इससे विरक्ति हो, उपेक्षा जगे और अपने आपके स्वरूपमें मग्नता हो तो यह नरजन्म पाना सफल है अन्यथा जैसे अनन्तभव धारण किये और छोड़े, उसी तरहसे यह भव भी व्यर्थमें गवा दिया तो फिर क्या लाभ मिला ? जो इस शरीरसे आत्महितकी बात कर सके वह है विवेकी बुद्धिमान् और जो पहिली आदतोंके ही माफिक शरीरको भोगोंमें हीजुटाये तो उसका यह दुर्लभ नरजन्म पाना बिल्कुल निष्फल है।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥१६६॥

शरीरकी वृत्तिमें क्लेश और शरीरकी निवृत्तिमें निःक्लेशता—इस लोकमें संसारसे उत्पन्न जो जो दुःख जीवोंको सहने पड़ते हैं वे सब इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पड़ते हैं। शरीर निवृत्त हो गया फिर इस जीवको कोई दुःख ही नहीं है। जरा जीवके स्वभावपर तो दृष्टिपात करें, क्या स्वभाव है जीवका, कौनसा सर्वस्व है इस जीवका ? वह स्वरूप सर्वस्व इस जीव के अनर्थके लिए नहीं है। किसी भी पदार्थका स्वरूप उस पदार्थके बिगाड़के लिए नहीं हुआ करता। किसी भी पदार्थका बिगाड़ तब ही सम्भव है जब किसी पर-उपाधिभूत पदार्थका सम्बन्ध बन रहा हो। शरीरसे निवृत्त हैं सिद्धभगवान और भले ही शरीर है अरहंतप्रभुके, फिर भी घातिया कर्मोंका सद्भाव न होनेसे वह शरीर उनके असाताके लिए नहीं बनता तो जो मुक्त जीव हैं उनको किसी प्रकारकी आकुलता ही नहीं है।

आकुलताविनाशक श्रद्धान—हमें आकुलता जगती हैं सो आकुलता मिटाने के लिए अन्तरङ्गमें यह श्रद्धा तो बनाये रहें कि मेरा स्वरूप तो आनन्दमय ही है। दुःखका इसमें प्रवेश ही नहीं है। ऐसी दृढ़ धारणा

बनाए रहें और दुःख आ रहे हैं, भोगने पड़ रहे है तो भोगते रहें, दुःख भोगते हुए भी अन्तरङ्गमें श्रद्धा अपनेको सहज आनन्दस्वरूप माननेकी ही बनाये रहें। कभी सुख भी भोगना पड़ता है तो सुख भोगनेके अवसरमें भी अपने आपको इस क्षोभमय सुखसे रहित विशुद्ध आनन्दमय माननेका ही अपनेमें प्रयत्न करें। एकत्वविभक्त निज अन्तस्तत्त्व है अर्थात् अपने आपके आत्मामें जो सहजस्वरूप बसा हुआ है वह स्वरूप परसे विभक्त है और अपने आपमें तन्मय है, वास्तविक वस्तुके स्वरूपको जाने बिना शान्तिका मार्ग मिल ही नहीं सकता है। निजको निज परको पर जानने की वृत्ति इस जीवके उद्धारके लिए है, यह बात तभी समझी जा सकती है जब हमें द्रव्य गुण पर्याय आदिक सब विधिविधानोंसे स्वरूपका यथार्थ निर्णय हो, तब ही इस शरीरकी प्रीति हट सकती है और शरीरसे प्रीति हटी कि शरीरके रहते हुए भी दुःख जाल भी उसके हटने लगते हैं। हे आत्मन्! जन्म और मरण करते हुए जो क्लेश सहनेमें आ रहे हैं वे सब इस शरीरके ग्रहण करनेसे ही आ रहे हैं। तू शरीररहित ज्ञानमात्र अपनेको दृष्टिमें ले तो फिर ये क्लेश तुझे नहीं हो सकते हैं।

कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥१६७॥

नरदेहकी अशुचिता ढकनेके लिये साजश्रृङ्गार—लोकमें जो उत्तम पदार्थ माने जाते हैं वे भी इस शरीरका संसर्ग पाकर मलिन हो जाते हैं। एक तो कपूर सुना होगा, देखा होगा, लगाते भी हैं, कितनी सुगंध होती है, उसमें शीतलताका भी स्वभाव पड़ा हुआ है, ऐसा पवित्र शीतल सुगंधित कपूर भी शरीरके सम्बन्धसे दुर्गन्धित और अपावन बन जाता है। यह शरीर ऐसा अशुचि है इसी कारण इसकी अशुचिताको दूर करनेके ख्याल से लोग वस्त्र पहिनते हैं बढ़िया बढिया चमकदार कि इस शरीरकी शोभा बढ़ जाय, इसकी कान्ति चमक जाय। लोग रंग पसंद करते हैं, हमको किस तरहकी धोती चाहिए, कैसा हमारी कमीजका रंग हो, डिजाइन पसंद करते हैं, यों अनेक प्रकारकी बातें निरखते हैं, यह छटनी किसलिए की जा रही है? इस शरीरमें ममत्व है, शरीरका लगाव है, इसे चमकाना है ना, तो वहां अनेक प्रकारके विकल्प चलते हैं। एक तो सुगम सहज थोड़े रूपमें कोई बात उठ आयी ठीक है और एक बड़ी छटनी हो, बड़ा चिन्तन हो, जब तक १०-१५ थान न देख लें कि कौनसा कपड़ा इस शरीर पर बड़ा सुहावना लगेगा, निर्णय ही नहीं हो पाता कि कौनसा कपड़ा हम लें। ये सब बातें इस शरीरकी आसक्तिमें हो रही हैं।

नरदेहके संसर्गसे लोकपवित्र पदार्थोंकी अपवित्रता—कुमकुम अगुरु,

कस्तूरी, चन्दन आदिक ये सभी सुगंधित पदार्थ भी इस शरीरका सम्बन्ध पाकर मलिन हो जाते हैं। शरीर स्वयं मैला है, यह ही मैला रहे इतना ही नहीं किन्तु इसके संसर्गसे उत्तमोत्तम पदार्थ भी मलिन हो जाया करते हैं। यह इसमें और अधिकता पड़ी हुई है कि लगाते लगाते ही अशुद्ध हो जाते हैं। देरसे अशुद्ध हों यह तो बात दूर जाने दो, पर संसर्गमात्रसे भी ये पावन पदार्थ अशुद्ध हो जाया करते हैं। ऐसे स्वयं अशुचि और दूसरे पवित्र चीजोंको भी अशुचि बना देनेका कारणभूत यह शरीर रमणके योग्य नहीं है। इस शरीरसे भिन्न ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपके स्वरूपको निहारकर सन्तुष्ट होवो, यही पुरुषार्थ हम आपका भला कर सकेगा।

अजिनपटलगूढ पञ्जरं कीकसानाम् कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम्। यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥१६८॥

देहके अशुचि पिण्डपर चर्मका आवरण—अशुचिभावनाके कथनको पूर्ण करते हुए इस अंतिम छन्दमें आचार्यदेव कह रहे हैं कि कैसा तो यह असार शरीर है और यह मनुष्योंको प्रीतिके लिए कैसा बन रहा है? मनुष्यका यह शरीर चर्मके पदार्थोंसे बना हुआ है। जैसे घरमें किसी बड़े अतिथिका आगमन हो तो अस्तव्यस्त पड़े हुए कूड़ेके ढेर पर बड़े चमकीले सुहावने कपड़ेका पर्दा डाल दिया जाता है, तो वह पर्दा देखनेमें तो बड़ा सुहावना कान्तिमान नजर आता है पर पर्देके भीतर क्या है? पर्दा उठा कर यदि कोई देखले तो अस्त व्यस्त नाना प्रकारके लोहा मिट्टी कूड़ाका ढेर लगा हुआ है, ऐसे ही यह चमड़ेका पर्दा चारों ओरसे पड़ा हुआ है। पैरों से लेकर सिर तक पीठ पेट सभी जगह चमड़ेका पर्दा पड़ा हुआ है। इस पर्देको देखकर मोहीजन इसमें अनुराग करते हैं। यह चमकीला सुहावना एकसा चिकना हर प्रकारसे एक दिल बहलाव करने वाला मान लिया है, किन्तु इस पर्देके भीतर है क्या? पर्दा उठाकर ज्ञानसे भीतर निरखकर देखो तो हाड़ मांसका लोथड़ है और रागरुधिर आदिक दुर्गन्धित चीजोंसे परिपूर्ण है।

शरीरकी विनश्वरता—अति दुर्गन्धित है यह असार शरीर और फिर इतने पर भी यह रहा आये सो भी नहीं रहता। कालके मुखमें बैठा हुआ है यह शरीर। जैसे किसी बड़े मगरके मुखमें कोई जंतु रखा हुआ बैठा हो तो उसकी क्या कुशल है? ऐसे ही यमराजके मुखमें अर्थात् आयुक्षयके प्रसंगमें यह बैठा हुआ है, इसकी क्या कुशल है? किसी भी समय अचानक मरण हो जाता है। लोग तो बहुत-बहुत वर्षोंके मसूबे बांधते हैं, यह करेंगे, यह करना है, लेकिन अचानक कब मरण हो जाता है। लोग तो बहुत-बहुत वर्षोंके मसूबे बांधते हैं, यह करेंगे, यह करना है, लेकिन

अचानक कब मर जाना है इसका कुछ निर्णय नहीं करते हैं । यह शरीर यमके मुखमें बैठा हुआ है और फिर जितनी देरको बच भी जाय यमके मुखसे अर्थात् जीवित भी रहे उतने काल भी तो यह रोगरूपी सर्पोंका घर है । जैसे जिस घरमें सर्प रह रहे हों तो उस घरकी क्या कुशल है, ऐसे ही शरीरमें जगह जगह रोग बस रहे हों, कहीं कुछ कहीं कुछ तो उस शरीर की क्या कुशल है ? इस शरीर पर क्या इतना अहंकार करना, प्रीति करना ? यह शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है ?

अशुचिभावनाका उपकार—अशुचि भावनामें यह भाव रखना चाहिए कि आत्मा तो स्वभावसे निर्मल है, उसमें कहीं मल होता ही नहीं है । आत्मस्वरूपसे देखो तो उसमें मल कहाँ चिपक सकता है, किन्तु कर्मोंके निमित्तसे जो इसके शरीरका सम्बन्ध है उसे यह जीव मोहसे कठिन मान कर भला जानता है । यह मनुष्योंका शरीर सर्वप्रकारसे अपवित्रताका घर है । ऐसे अपवित्र शरीरको पाकर हम कोई हितकी कल्याणकी बात कर सकें, उसका उपाय यही है कि अशुचि भावना भा करके शरीरसे विरक्त होकर आत्माके निर्मलस्वरूपमें रमनेकी रुचि बनायें । यह बात मनुष्यभव में हो सकती है । संयमकी पूर्णता, साक्षात् मोक्षमार्ग इस मनुष्य भवसे ही बनता है, तब इसका किस ढगसे उपयोग करना, कैसी भावना बनाना, कैसी दृष्टि करना, कैसी प्रवृत्ति करना, ये सब योग्य समझकर उनमें लगे और अशुचि शरीरसे निवृत्त होकर पवित्र आत्मतत्त्वमें अपना उपयोग जमाये, यही है इस भावनाका सारभूत तात्पर्य ।

मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते ।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ॥१६६॥

योग और आस्रव—अब आश्रवभावनाका वर्णन कर रहे हैं । आश्रव किसे कहते हैं? इसका स्वरूप इस श्लोकमें कहा गया है । मन, वचन, काय की क्रियाका नाम है योग और इस योगको ही तत्त्वज्ञानी पुरुष कहा करते हैं आश्रव । कहीं कहीं तो मन, वचन, काय इस प्रकारका क्रम लेकर बोला करते हैं और कहीं शरीर, वचन, मन, ऐसा भी बोलते हैं । इस दूसरी पद्धतिका वर्णन तत्त्वार्थसूत्रमें है । छठे अध्यायमें प्रथम दो सूत्र यों आये हैं 'कायवाङ्मनःकर्म योगः स आस्रवः ।' शरीर, वचन और मनका जो परिस्पद है वह योग है और वही आस्रव है । यद्यपि काय, वचन, मनकी हालत का ही नाम सीधा आस्रव नहीं है, किन्तु काय, वचन, मनके परिस्पदका निमित्त पाकर जो आत्मप्रदेशोंमे परिस्पद होता है वह आस्रव कहा जाता है ।

योगोंमें विशेषता—कायका परिस्पंद एक मोटा परिस्पद है जो लोगों की दृष्टिमें शीघ्र आ जाता है । यह शरीर हिले डुले, हाथसे क्रिया की,

पैरसे क्रिया की, यह सब दृष्टि हममें आ जाता है। तो काययोग और स्थूलयोग है, उससे सूक्ष्म है वचनयोग। जो काययोगकी अपेक्षा सूक्ष्मता को लिए हुए है और वचनयोगसे सूक्ष्म है वह है मनोयोग। केवल एक मन से चिन्तन किया, वहा जो मनमें परिस्पद हुआ वह है मनोयोग। इस तरह स्थूलसे सूक्ष्मके योग आनेपर क्रम बनता है– काय वचन और मन। सूक्ष्म से स्थूलकी ओर जाने पर क्रम बनता है--मन, वचन, काय। यों योग तीन प्रकारके कहे गए हैं। यद्यपि तीन प्रकारके योगोंमें वस्तुतः योगका लक्षण एक ही है और वह है आत्मप्रदेशका परिस्पद होना, किन्तु आत्मप्रदेशका परिस्पद किन-किन निमित्तोंको पाकर हुआ करता है? उनका नाम लेकर योगमें भेद डालना यह उपचार कथन है और यों औपचारिक तीन भेद हो जाते हैं। आस्रवसे होता क्या है? इस बातका वर्णन अब अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

वार्द्धेरन्त समादत्ते यानपात्र यथा जलम्।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभैः ॥१७०॥

दृष्टान्तपूर्वक आस्रवस्वरूपका विवरण—जैसे समुद्रमें रहने वाले जहाजमें छिद्रोंके द्वारसे जलका ग्रहण होता है इसी तरह यह जीव शुभोपयोग अशुभोपयोगरूपी छिद्रोंसे शुभ और अशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है। जहाज चल रहा है पानीमें, उसमें कहीं छिद्र हो जायें तो उन छिद्रोंके द्वार से पानी नावमें आता है और पानीके आनेसे नाव डूब सकती है, ऐसे ही इस जीवमें शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप छिद्रोंसे शुभ और अशुभ कर्म आते हैं और इन शुभ अशुभ कर्मोंके बोझसे यह जीव ससारमें डूब जाता है। आस्रवका अर्थ "आना" है, पर एक ऐसे विशिष्ट प्रकारके आनेमें आस्रवका प्रयोग होता है। जैसे कि किसी जमीनमें से सूक्ष्म नाना छिद्रों से फिर कर पानी आता है तो ऐसे आने वाले पानीके लिए आस्रवका प्रयोग हो सकता है और एकदम सीधा ही प्रवाह रूपसे आनेमें आस्रवका प्रयोग नहीं होता। यों ही जीवके समस्त प्रदेशोंमें जीवके ही शुभ अशुभरूप सूक्ष्म छिद्रोंसे जो कर्मोंका आगमन होता है उसका नाम है आस्रव।

आस्रवका फल और साधन—आस्रवका फल क्या होता है? वह है यह समस्त ससार। चारों गतियोंमें जन्म ले लेकर यह जीव शुभ अशुभ कर्मों का फल ही तो पाया करता है। आस्रव तत्त्व हेय है। आस्रवका मूल द्वार अशुद्ध भाव है। उस अशुद्ध भावके दो प्रकार हो गए—एक शुभ भाव और एक अशुभ भाव। ये दोनों ही अशुद्ध भाव। शुद्ध भाव तो रागद्वेष रहित केवल चैतन्यप्रकाश ही है। जहाँ किसी भी प्रकारका राग अथवा द्वेषका अश समन्वित है वह भाव अशुद्ध भाव है। अशुद्धभाव होने पर भी शुभ-

भावसे तो पुण्यका आस्रव होता है और अशुभभावसे पापका आस्रव होता है। हम आप अपने इस रात दिनके २४ घटोंमें कितना तो शुभ भाव करते हैं और कितना अशुभभाव करते हैं और कितनी शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि दिया करते हैं? इन तीन बातोंका तो निरीक्षण अवश्य करना चाहिए। और फिर निरीक्षणमें निरखलो कि हम शुभभाव कितने अशोंमें करते हैं?

आस्रवमें अपध्यानकी विशेषता—एक अपध्यान नामक अनर्थदंड है जिसका अर्थ यह है कि आत्माका कुछ प्रयोजन भी जहां नहीं सधता। प्रयोजन है इसका इस शरीरके रखनेके लिए आजीविकाका और आत्मकल्याणके लिए धर्ममें सावधान रहनेका। केवल दो ही तो प्रयोजन है। यद्यपि मनुष्यकी कलायें ७२ मानी गयी हैं किन्तु उन कलावोंमें दो ही सरदार कलायें हैं—एक तो आजीविका और दूसरी जीव उद्धार। तो दोनों प्रयोजन जहा नहीं हैं और फिर भी उसका बहुत ध्यान किया जाना, चिन्तन किया जाना वह सब अपध्यान है। जैसे दूसरेका वध विचारना, नुकसान विचारना, छेदन, भेदन, विनाश, नुकसान विचारना, बुरा विचारना, ईर्ष्या करना, दूसरेके काम बिगाड़ना, धर्ममें विघ्न डालना जिनसे अपना कोई प्रयोजन नहीं सधता और फिर अटपट काम किए जायें, चिन्तन किया जाय तो वे सब अपध्यान हैं। इसको भी निरख लो कि हम अपध्यान कितने अंशों तक करते हैं?

अपध्यानकी नितान्त व्यर्थता—ससारमें सभी जीव अपनेसे अत्यन्त भिन्न हैं। हमारे विचारनेसे किसी दूसरेका कुछ नुकसान बनता नहीं है अथवा दूसरे लोग मेरे बारेमें कुछ बुरा विचार रखें तो उससे मेरा कुछ बनता नहीं है। जैसे कौवाके अटपट कोसनेसे गाय नहीं मरती, ऐसे ही हम आप किसीके बारेमे कितना ही अनर्थ और उसके विनाशकी बात सोच तो हमारे सोचनेसे उसका बिगाड़ नहीं होता। वहां तो जो कुछ होना है वह होता है उसके उदयके अनुसार ही। कदाचित् आपके खोटे चिन्तनके अनुसार दूसरेका बिगाड़ भी हो जाय तो आपके चिन्तनके कारण बिगाड़ उसका नहीं होता, किन्तु उसका ऐसा ही पापका उदय आया था तो उसको फल मिलनेमें कोई तो निमित्त बनता। आप न निमित्त बनते तो अन्य कोई निमित्त बनता। तो जब हमारे विचारके कारण दूसरोंका कुछ बिगाड़ नहीं होता और हम बुरा विचार करें तो अपने आपमें ही पापका बन्ध कर रहे हैं। अब जिम्मेदारी समझना चाहिए अपनी। हम क्यों ऐसा काम करें कि जिससे हानि ही हानि हमें उठानी पड़े। दूसरोंका बुरा चिन्तन करनेसे हानि ही हानि उठानी पड़ती है। तत्काल दुःख भोगा और उसी व्यवहारके कारण दूसरेसे उपद्रव भी आयेंगे, उन्हें भी भोगेगा और कर्मबन्ध होने से दुर्गतिमें जन्म होगा, वह भी क्लेश भोगना पड़ेगा।

प्रवृत्तियोंमे लाभ हानिका ईक्षण—परके अनिष्टचिन्तनसे विपत्तियां तो कितनी ही आती हैं लेकिन लाभकी बात बताओ। दूसरेका बुरा विचारने से, ईर्ष्या रखनेसे विघ्न करनेसे खुदको लाभ कितना होता है ? इस पर भी दृष्टिपात करें। लाभ तो कुछ मिलता नहीं, पर सारे नुक्सान ही नुक्सान होते हैं, यह बात सुनिश्चित है। अपध्यान अथवा अन्य खोटे कार्य इन सबमें अपना कितना समय व्यतीत होता है और अर्हद्भक्ति, गुरुसेवा, दान, परोपकार दया आदिक परिणामोंमें कितने क्षण व्यतीत होते हैं ? इसकी तुलना करो और साथ ही यह भी निरखलो कि किसी क्षण हम कितने अंशोंमें एक शुद्ध निज अतस्तत्त्वकी ओर लगे रहनेके लिए भावना बनाते हैं, इन तीन बातोंकी परख कीजिए तो सही, आपको आप की गलती दिख जाय, यह भी एक बड़ा शुभ काम है, अच्छे होनहारका सूचक है।

मोहका अपराध—ससारके सभी जीव इतनी मोटी गलती कर रहे हैं, जैसे कि वैभव है प्रकट भिन्न, पर यह तो मेरा सर्वस्व ही है, इससे ही मुझे शान्ति है, इससे ही मेरा उद्धार है, इस प्रकारका आशय बना रहे हैं। यह कितना मोटा अपराध है, पर इस अपराधको मानने वाले लोग हैं कितने ? कितने पुरुषोंके चित्तमें यह बात समायी हुई है कि मैं मोहका कितना विकट अपराध कर रहा हू, इस पर कितना बडा खेद हो रहा है ? अपनी गलती अपनेको विदित हो जाग यह भी एक सुधारका कदम है। तो शुभ अशुभयोग रूप छिद्रोंसे यह जीव शुभ अशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है, यही आश्रव है, यह आश्रव दुखदायी है अहितरूप है, इससे बचनेके लिए शुभ अशुभ भावोंको रोकें। ऐसा करनेके लिए शुद्ध निजस्वरूपका परिज्ञान बनाये रहें तो इससे इस आस्रव पर हमारी विजय होगी और मोक्षमार्गमें निर्बाध चल सकेंगे।

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।
मैत्र्यादिभावनारूढ मन सूते शुभास्रवम् ॥१७१॥

यम व्रतमें शुभास्रवकी कारणता—आश्रव दो प्रकारके हैं—एक शुभाश्रव और एक अशुभास्रव। शुभास्रवका वर्णन इस श्लोकमें किया है। ऐसा मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है जो मन यम प्रसम निर्वेग और तत्त्वचिन्तन का अवलम्बन लिए हुए हो। वह मन जो मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनामें आरूढ हो, ऐसा ही यम अर्थात् यह उपयोग यही आस्रव शुभास्रवको उत्पन्न करता है। यम कहते हैं उसे जो जिन्दगीपर्यन्त के लिए त्याग है। जैसे अणुव्रत और महाव्रत। कोई पुरुष कहे कि मैं तीन वर्षके लिए महाव्रत ग्रहण करता हू तो वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला

है, महाव्रतका धारण जन्मपर्यन्तके लिए होता है। जैसे महाव्रतका पालन यावत जीवनभरके लिए हुआ करता है ऐसे ही अणुव्रतका ग्रहण यावत् जीवन पर्यन्तके लिए हुआ करता है। हाँ, अणुव्रती महाव्रत धारण कर लें तो वह और भी अच्छा होगा। कोई कहे कि मैं २ वर्षके लिए अणुव्रत ग्रहण करता हूं तो ऐसा नहीं होता। जो ग्रहण करे वह सदाके लिए ग्रहण करे, यही यम कहलाता है।

नियम व्रतमें शुभास्रवकी कारणता—नियम नियत समय तक की प्रतिज्ञाको कहते हैं। जैसे एक दिनका उपवास ठान लिया, हम एक दिनका उपवास करेंगे, कलके दिन तो यह नियम है। सदा तो यह अनशन वाला रहेगा नहीं। मैंने एक दिनका नियम लिया, ऐसा कोई करे तो वह नियममें शामिल है, यममें शामिल नहीं है। हां, यह बात अवश्य एक धर्मानुराग की होनी चाहिए कि यह कल्पना न बनाएँ कि मेरा २४ घंटेका त्याग है, ये २४ घंटे निकलने पर फिर सभी चीजें अच्छी-अच्छी मिष्टान्न वगैरह बनाकर खायेंगे। इस प्रकार सीमासे बाहर की स्थितिमें विकल्प न होना चाहिए, यह एक इसमें अतिशय वाली बात होनी योग्य है। कुछ लोग ऐसा अपना बल रखते भी है, किन्तु अक्सर लोग उपवास करनेके बाद यह सीमा बराबर ध्यानमें रखते हैं कि सुबह ७ बजे तकके लिए त्याग है। अब कितनी देर रह गयी ? अभी २ घंटे बाकी हैं, तीन घंटे बाकी हैं। बजने तो दो ७ अभी अच्छा अच्छा बनाकर खायेंगे। यों सीमा रखनेकी स्थितिका विकल्प बना हुआ है, वह अतिशय नहीं पैदा करने देता। हमारा कर्तव्य है कि नाना विकल्प न बना लें। विकल्प प्रायः सबमें बने ही रहते हैं। भाद्रपद सुदी चतुर्दशी को उपवास करने वाले लोग जबसे ही उपवास ठाना तभीसे क्या यह चित्तमें नहीं रखते कि आने तो दो पूनम, सुबहके ६ बजते ही सब कुछ अच्छा अच्छा बनाकर खायेंगे, ऐसा विकल्प न बनाना चाहिए। अणुव्रत और महाव्रत सीमा लेकर नहीं धारण किए जाते, इस कारण ये यमरूप व्रत हैं।

प्रशमभावसे शुभ आस्रव—प्रशम कषायोंकी मंदता होना, क्रोध, मान, माया, लोभ, सभी कषायें मंद होना वह प्रशम कहलाता है। कुछ लोग ऐसा कहने लगते कि हमारे तो और कोई कषाय नहीं है, सिर्फ क्रोधभर नहीं छूटता। क्या उनकी यह बात सही है ? जिसके क्रोध है उसके सब कषायें हैं और जिसके कोई भी एक कषाय हो, बुद्धिपूर्वक प्रायोगिक कोई भी कषाय हो उसके सभी कषायें हैं। जैसे क्रोधके शमन बिना प्रशम नहीं होता ऐसे ही मान, माया, लोभ कषायोंके शमन बिना भी प्रशमभाव नहीं होता है। यों प्रशमभावका अवलम्बन लेने वाला शुभास्रवको उत्पन्न करता है।

शुभास्रवको उत्पन्न करने वाले भाव क्या क्या होते हैं? इस प्रकरणमें यम, नियम और प्रशमका वर्णन तो किया, अब आगे और भी तत्त्वोंका वर्णन होगा।

निर्वेदभावसे शुभ आस्रव--शुभास्रव किन-किन परिणामोंसे होता है, उनका वर्णन इस छन्दमें है। निर्वेद परिणामसे सहित मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है। निर्वेदका अर्थ विधिपरक और निषेधपरक दोनों प्रकारसे है। संसारसे विरक्तिका आना सो निर्वेद है और धर्ममें अनुराग होना भी निर्वेद है। ये दोनों बातें अत्यन्त भिन्न आधाररूप नहीं है किन्तु वैराग्य हो वहां अनुराग होता है। जहां धर्मानुराग--हो वहां वैराग्य होता है। तो वैराग्य और धर्मानुराग इन दोनोंसे समन्वित परिणाम निर्वेदभाव है। जहां निर्वेदभाव है वह मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है।

तत्त्वचिन्तनसे शुभ आस्रव--तत्त्वचिन्तनसे सहित मन पुण्यास्रवको करता है। वस्तुका सहजस्वरूप कैसा है, विकार किस प्रकार आता है आदिक अनेक प्रासंगिक तत्त्वस्वरूपका चिन्तवन करना यह एक पवित्र परिणाम है और इस तत्त्वचिन्तन परिणामसे सहित मन शुभास्रवको करता है।

चार प्रकारकी और भी पवित्र भावनाएँ होती हैं--मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य। ये समस्त भाव शुभास्रवको उत्पन्न करता है।

मैत्रीभावसे शुभ आस्रव--समताके प्रसंगमें यह चार प्रकारकी भावनाओंका बहुत विशेष सहयोग है। संसारके समस्त जीवोंमें मैत्री परिणाम जगे वहां ही समता प्रकट होती है। समताका नाम सामायिक है। समता वहां ही सम्भव है जहाँ सबको समान समझ लिया जाय। समका परिणामका नाम समता है। जगतके सभी जीव मेरे ही समान हैं, इस प्रकारकी दृष्टि जगने पर समता प्रकट होती है, मित्रता प्रकट होती है। जिस दृष्टिसे सब जीव समान हैं उस दृष्टिका एक ऐसा अपूर्व बल है कि उस दृष्टिके साधक पुरुषको विह्वलता नहीं आती। सभी जीव निगोदसे लेकर सिद्धपर्यन्त अशुद्ध और शुद्ध सभी जीव किस स्वरूपसे अस्तित्व रखते हैं उस स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो सबका एक समान स्वरूप है। उस स्वरूपकी दृष्टिमें समता प्रकट होती है। और तब अपने समान जिन्हें समझा है उनमें दुःख उत्पन्न न हो, ऐसी अभिलाषाका जगना प्राकृतिक बात है। समस्त जीवोंमें दुःख उत्पन्न न हो, ऐसी अभिलाषा करनेका नाम मैत्री भाव है। मैत्री परिणामसे पुण्यका आस्रव होता है।

गुणियोंमें प्रमोदभावसे शुभ आस्रव--गुणीजनोंको देखकर हृदय हर्ष विभोर हो जाय, इस परिणामका नाम प्रमोद है। देखिए अपना चित्त अपना

उपयोग अपने आपमें है। रत्नत्रयका स्वरूप स्मरण करके रत्नत्रयधारियों की अन्तर्वृत्ति विज्ञान आदि करके हृदयमें हर्षका परिणाम न जगे तो समझिये कि अभी धर्ममें प्रीति ही नहीं हुई है। किसी धर्मात्माके प्रति विनय करके, हर्षित चित्त करके अपनी एक पुण्यवृत्ति बनाई जाती है, वह खुदके भलेके लिए है। किसी पर ऐहसान लादनेके लिए अथवा लोकमें अपनी ख्याति चाहनेके लिए नहीं है। ये जीव खुद-खुदमें खुदका लाभ उत्पन्न करें ऐसी स्थिति पानेके लिए यह बात बहुत जरूरी है कि गुणी-जनोंको देखकर हृदयमें प्रमोदभाव जगे। दिखावटी प्रमोद नहीं हो कि शास्त्रमें लिखा है कि धर्मात्मा जनोंसे, गुणीजनोंसे प्रमोदभाव करना चाहिए, सो अपनी मुद्रा बताकर अपनी जबरदस्ती ही वृत्ति बनाकर प्रमोदका पार्ट बना लेना, यह कोई पुण्य स्रवका हेतु नहीं है। जिसको अपने शुद्ध सहजस्वरूपमें प्रीति है उसको रागांश रहने तक शुद्ध सहज स्वरूपके आराधकोंमे प्रमोद रहता ही है। यह प्रमोदभाव पुण्यका आस्रव करने वाला है।

अनुकम्पाभावसे शुभ आस्रव—दया परिणाम— दुःखी जीवोंको देखकर दयाभाव करना। प्राय ऐसी बात लोगोंमे होती भी है। निकट भूखे बैठे हुए किसीको देखकर खुद ही तो खाये और दूसरेको कुछ न दे, ऐसी बात नहीं बनती है। बल्कि करते तो लोग यहा तक हैं कि पासमें कोई कुत्ता आदिक जानवर बैठा हो तो उसे कुछ खाना देकर स्वयं भी खाते रहते है। ऐसे ही समस्त वृत्तियोमे समझिये कि जहा दुःखी जीवोंको निरखा उन्हें दुःखी हो देखते रहें और खुद बडे शौक शानसे रहा करें, यह महापुरुषोंसे नहीं बनता है। उद्दण्ड और विषयोंके तीव्र अभिलाषी अज्ञानी जन तो ऐसा कर सकते हैं, किन्तु जिनके कुछ भी विवेक जगा है उनसे यह बात नहीं बन सकती कि सामने तो अत्यन्त दुःखी भूखा प्यासा स्थानरहित कोई पुरुष रहता हो और खुद व्यर्थके अनाप सनाप खर्च करके अपनी उदरपूर्तिमें लगे हों, यह बात बड़े पुरुषोंसे नहीं बनती है, शोभायोग्य भी बात नहीं है। ज्ञानी जीव दुःखी जीवोंको निरखकर करुणाभाव लाते ही हैं मनमें और जिस किसी प्रकार जिससे कि खुदके धर्ममें बाधा न आये और दूसरोंका उपकार हो जाय, ऐसी योग्य विधिसे दुःखी जीवोंके दुःखको दूर करनेका यत्न करते हैं। इस अनुकम्पाका परिणाम पुण्यबंधका कराने वाला है।

माध्यस्थ्यभावसे शुभ आस्रव—चौथी भावना है माध्यस्थ्यभाव। जो जीव विपरीत वृत्ति वाले हैं, उद्दण्ड हैं, निपट अज्ञानी हैं ऐसे जीवोंमें राग अथवा द्वेष न करके अपनेको मध्यस्थ बनाना यही है माध्यस्थभाव। उद्दण्ड

पुरुषसे राग करके भी लाभ नहीं पाया जा सकता और द्वेष करके भी लाभ नहीं पाया जा सकता। अतएव जो ज्ञानी है उनमें माध्यस्थ्यभाव ही रहना चाहिए, इस माध्यस्थ्य परिणाममें उदारता, त्याग, क्षमा सभी गुण बसे हुए हैं। यों ये ४ प्रकारके परिणाम भी आत्मामें समताको उत्पन्न करते हैं। सब जीवोंमें मित्रता हुई तो समानता तभी हुई ना? गुणियोंको देख कर हर्ष किया तो अपना ही बढ़ावा करके गुणियोंके बराबर बननेका ही काम हुआ ना। दुःखी जीवोंको देखकर दयाका परिणाम किया तो उन दुःखोंका दुःख मिटेगा तो वह उसके समान बन गया ना और माध्यस्थ्य परिणाममें तो समानताकी बात कही ही गई है। यों ये ४ परिणाम समता के पोषक हैं और पुण्यास्रवको उत्पन्न करने वाले हैं।

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
सञ्चिनोति मन कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम् ॥१७२॥

क्रोधकषायका दहन—कषायरूपी अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रिय विषयोंसे व्याकुल मन जन्मके सम्बन्धका सूचक व अशुभ कर्मका सचय करता है। कषायोंको ज्वालाकी उपमा देना बहुत ही युक्तिसंगत है। देखो ना, सभी प्रकारकी कषायोंसे अन्तरमें दाह उत्पन्न होती है। क्रोध करने की स्थितिमें अन्तर्दाह रहती है, यह तो स्पष्ट नजर आता है। क्रोधी पुरुष की आखे चढ़ जाती हैं, लाल हो जाती हैं। आप यहा बैठे हैं, जरा किसी तरहसे आखें लाल करके तो दिखाओ, नहीं दिखा सकते। विकट क्रोध पैदा हो तो आँखें लाल हो जाती हैं। क्रोधभाव यद्यपि आत्माका परिणाम है। विकार भाव है, लेकिन कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है इन शरीरी जीवोंमें कि क्रोध भाव जगे तो आखोंके रगपर भी असर पड़ जाता है। क्रोध जागृत होने पर यह मुँह भी, यह बोल भी ठीक ठीक काम नहीं करता है। इसलिए क्रोधमें शब्द भी बिल्कुल अस्पष्ट निकलते हैं और उस अस्पष्ट और गर्जी हुई बोलचालसे यह भी दुःखी होता है और जिस पर यह क्रोध करता है वह भी दुःखी होता है और जितने सुनने वाले लोग होंगे वे भी दुःखी हो जाते हैं।

मान माया लोभका दहन—मानमें क्या कम दाह है? दूसरे लोगोंको तुच्छ समझना, अपने आपको सबसे महान् समझना और ऐसा ही होनेके लिए आपकी प्रवृत्ति करना इन सब बातोंमें क्या कम अन्तर्दाह है? मान भी एक ज्वाला है, मायाचार भी कठिन ज्वाला है। मायाचारी पुरुषको रात्रिको अच्छी नींद भी नहीं आती, क्या क्या ख्याल, क्या-क्या भ्रम, क्या क्या शकायें उत्पन्न होती हैं कि इसकी नींद उचट जाती है। यह नींद नहीं ले पाता है। कितना अन्यायका परिणाम है? किसीसे कुछ वह

दिया, किसीसे कुछ कह दिया और किसी किसी मनुष्यमें ऐसी प्रकृति होती है कि यथा तथा मायाचारका व्यवहार करना है। लाभ कुछ भी नहीं है किन्तु जब यह प्रकृति बन जाती है, उदय ही इस प्रकारका है तो वे सब अहितकारी बातें चलती हैं माया कषाय भी ज्वाला है, लोभ कषाय भी ज्वाला है। लोभसे भी अन्तरंगमें दाह उत्पन्न होती है। यों कषायकी ज्वालावोंसे उद्दीप्त मन जो कि विषयोंसे व्याकुल किया गया है वह मन अशुभ कर्मोंका संचय करता है।

सम्यग्ज्ञानके बलका प्रभाव--इस जीवका सर्वोच्च वैभव है सम्यग्ज्ञान। सब कुछ पा ले और कुछ भी समझनेकी या किसी भी चीजको संभालनेकी योग्यता नहीं है वहां बुद्धि चलती ही नहीं है, ऐसा विचित्र बावलापन सा आ जाय तो वहां इसे मिला क्या ? जड़ विभूति कितनी भी हो किन्तु सम्यग्ज्ञानका अभ्युदय न हो तो वह तो धूलवत् है। उससे जीवको लाभ क्या ? सम्यग्ज्ञान व्यवस्थित है और बाहरी प्रसंग लोगोंकी महत्ताके लायक न जुड़े हों तो भी इस जीवको हानि नहीं है। यथार्थपरिज्ञान करना ही सर्वोच्च वैभव है। जहां सही ज्ञान बन जाय, निजको निज परको पर यथार्थरूपसे जान लेनेकी समझ बन जाय वहा है वास्तविक अमीरी। जो विषयोंसे व्याकुल हो जाते हैं उनको यह अमीरी कहा रक्खी है ? कितना असार काम है विषयोंका प्रसंग ? इसने इस जीवको मलिन कर दिया है। किन्तु जब ऐसा ही मोहका उदय है तो इसे जन्म मरणके चक्करमें अवश होकर लगना ही पड़ता है। इन कर्मोंका संचय विषय और कषायोंकी जागृतिसे है। जैसे कि देवस्तुतिमें कहा है ना—आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।। विषय और कषायोंके परिणाम आत्मामें अहितरूप हैं। प्रभुसे यह भावना की जा रही है कि हे नाथ! मेरेमें विषय और कषायोंकी परिणति न जगे। जगती है विषय कषायोंकी परिणति तो यह जन्म मरणकी परम्परा ही बढ़ाने वाली है। ज्ञानीपुरुष सम्यग्ज्ञानके बलसे विषय और कषायोंसे हटकर अपने आपके अन्तरंगमें अपने आपकी उपासना करते रहते हैं। इस आत्म-उपासनासे कर्मोंका आना बन्द हो जाता है।

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम्।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।१५३।।

सत्यवचनयोगसे शुभास्रव—पूर्व छन्दमें मनकी परिणति द्वारा आस्रव का वर्णन किया था। इस छन्दमें वचनयोगके कारण आस्रव होनेका वर्णन किया है। समस्त विश्वके व्यापारोंसे रहित और श्रुतज्ञानका अवलम्बन करने वाला सत्यवचन ही शुभास्रवके लिए जानना चाहिए। सत्य शब्दमें

आत्महितकी प्रमुखताका स्थान है। सत्यवचन वही कहलाते हैं जो आत्मा का हित करने वाले हों। सत्य बात सबके भलेके लिए होती है। कोई उल्टी हठ लिए बैठा हो उसकी बात तो अलग है, पर सत्यवचन स्व और परके हितके लिए हुआ करते हैं। सत्यवचन वही है जहा सर्वप्रकारके व्यापार दूर हो गए हैं। कहते हैं ना कि एक असत्य बोल देनेसे अनेक प्रकारके नटखट हो जाया करते हैं, उन नटखटोंका नाम है विश्वव्यापार। उन सारे नटखटोंसे रहित सत्यवचनव्यवहार होता है। सत्यवचनयोगसे शुभ कर्मों का आस्रव होता है।

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम्।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्य परुष वच ॥१७४॥

असत्यवचनसे पापास्रव—पुण्यास्रवका वर्णन करके अब पापास्रवका वर्णन किया जा रहा है। निन्दाका स्थान, असन्मार्गका उपदेश असत् कठोर कानोंसे सुनते ही जो दूसरोंके कषायोंको उबाल दे, उत्पन्न कर दे और जिससे परका बुरा हो जाय ऐसे वचन असत्य हैं, कठोर हैं, कानोंसे सुनते ही सुनने वालेके चित्तमें कषाय भावको उत्पन्न करते हैं, इससे स्व और पर दनोंका बुरा होता है। ये वचन पापास्रवके कारण होते हैं। एक नीति काव्यमें कहा है कि वचने का दरिद्रता। वचन बोलनेमें क्या दरिद्रता करनी ? बुरा न बोले, भला ही बोल दिया तो आपका नुक्सान क्या हुआ ? बल्कि हित हुआ। धर्ममार्गमें रोड़ा अटकाने वाला यह असत्य वचन है। असत्य वचनोंसे स्वयका भी अपवाद है और जिसके सम्बन्धमें बोला जाय उसका भी अपवाद है। जो बात व्यर्थकी है, अनर्थकी है, दुरर्थकी है वह तो विडम्बना ही है। अपने आपको इतना सयत वृत्तिमें नियमित रखना चाहिए कि कभी किसी उद्वेगका सामना न करना पड़े। कोई लेख लिखे कुछ उपदेश करे, कहीं बयान दे, कहीं समूहमें समाजमें कुछ बोलचाल करे तो वहा जो कम बोलनेकी नीति अपनाता है वह बहुतसी आपदाओंसे बच जाता है। बहुत-बहुत बोलना भी एक दोष बता दिया गया है। जो अत्यन्त अधिक बोलता रहता है उसके वचनोंका सतुलन नहीं रह सकता है, क्योंकि बहुत बोले तो उसमें कभी कुछ भी वचन निकल सकते हैं, वे वचन फिर पीछे अपने शल्यके लिए बन जायेंगे। जो वचन असन्मार्गका उपदेश करते हैं वे वचन पापोंका ही आस्रव करते हैं।

असन्मार्गके भाव और वचनोंसे पापका आस्रव—भैया ! लोकमें अनेक पापी जीवोंको फलते फूलते सुखी होता हुआ देखकर चित्तमें कमजोरी न लाना चाहिए। यह तो एक ससारका तरीका है, नमूना है। जिन वचनोंसे

सत्यमार्गका पोषण हो, वस्तुस्वरूपके विरुद्ध बातका समर्थन हो वे सब असन्मार्गके उपदेशक वचन हैं, इससे पापका ही आस्रव होता है। असत्य और कठोर वचन पापोंका ही बंध किया करते हैं। कठोर वचन बोलनेके लिए बहुत समय पहिले से सक्लेश परिणाम करना होता है और फिर कठोर वचन बोलकर यह बोलने वाला भी तो सुख शान्तिके वातावरणमें नहीं ठहर सकता। आजकल अन्तर्राष्ट्रमें अथवा घरमें, देशमें, समाजमें जितने विवाद कलह होते हैं उनमें प्रायः करके कठोर वचन बोलनेका भाग बहुत अधिक रहता है। ६०—६५ प्रतिशत लड़ाइयां तो एक कठोर वचन बोलनेके कारण बन जाती हैं। तो यों कठोर शब्दका प्रयोग भी पाप कर्मोंका आस्रव कराता है। ऐसे वचन पापास्रवके ही कारण हैं। सो हे भव्य जीवो! इन असत्य वचनोंका परित्याग करो। जो सत्य वचन हैं उनका आश्रय करो उन्हें ही बोलो। और उस ही नीतिका अनुकरण करके अपनी प्रवृत्ति रक्खो।

मन वचन कायकी अशुभ प्रवृत्तिके निषेधका अनुरोध—संसारमें कोई जीव मेरा सहायक न तो है और न होगा। सब कुछ हमें अपने ही परिणाम सभालकर अपना योग्य काम करना है। यों अपने मनको, वचनको, खोटे विषयोंमें प्रयुक्त न करना और तत्त्वचिन्तनमें इनका उपयोग करना यह ही एक कर्तव्य है, इससे ही हम आस्रव भावसे हट सकते हैं। आस्रव तत्त्व हेय है, जन्मजालमें रुलाने वाला है, इससे छुटकारा पानेमें ही अपना भला है। उसका उपाय अपने सहजस्वरूपकी दृष्टि करना और ऐसा ही अपनेको मानना है।

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम्।
सञ्चिनोति शुभ कर्म काययोगेन संयमी ॥१७५॥

कायसंयमनसे शुभास्रव—भली प्रकार गुप्त रूप किया हुए अर्थात् अपने वशीभूत किए हुए शरीरसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे ये संयमी मुनि शुभ कर्मोंका सयम करते हैं। इससे पहिले छंदमें वचनयोग द्वारा शुभास्रवका वर्णन किया था। अब यहां काययोगसे पुण्यास्रव होनेका वर्णन किया जा रहा है। कायगुप्तिसे अथवा कायोत्सर्गसे अथवा शुभकायकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न जो योग होता है उस स्थितिमें जो राग रहता है उसके कारण पुण्यप्रकृतिका आस्रव होता है। कायगुप्ति और कायोत्सर्गमें साधारणसा अन्तर है। कायगुप्तिका अर्थ है कायसे मिथ्यात्वका त्याग करना, कायकी ओर लगाव और झुकाव न रहने देना—ये दोनों पुण्यास्रवके काययोगके प्रसंगमें उत्कृष्ट साधन हैं।

शुभकाययोगसे शुभास्रव—तीर्थयात्रा अथवा दूसरोंकी वैयावृत्तिके

उपायसे भी शुभास्रव होता है। मोही जीवोंको चूँकि पुण्यके फलमें रुचि है और मोही पुरुषोंका ही आधिक्य है लोकमें, इनकी रुचिके अनुसार पुण्यके आस्रवको भला माना जाता है और किसी हद तक यह बात कुछ ठीक यों मानी जा सकती है कि जैसे दो पुरुष किसी पुरुषकी प्रतीक्षामें हों, प्रतीक्षा कहते हैं बाट जोहनेको, आने की प्रतीक्षा कर रहे हों, लेकिन उनमें से एक पुरुष तो पेड़की छायाके नीचे बैठकर प्रतीक्षा कर रहा हो और एक पुरुष कड़ी धूपमें खड़ा होकर प्रतीक्षा कर रहा हो तो प्रतीक्षक यद्यपि दोनों हैं, किन्तु उनकी वर्तमान स्थितिमें अन्तर है। छायामें बैठकर किसीकी बाट जोहने वाला कम संक्लेशमें है और धूपमें खड़ा होकर किसी की बाट जोहने वाला बड़े संक्लेशमें है। यों ही जिसके पुण्यका उदय है, पुण्यवान् जीव है, पुण्यफल भोगते हुए वह पुरुष तो उस प्रतीक्षककी तरह है जो छायामें बैठा हुआ है और पाप उदय वाला पापी जीवकी कोटि उस प्रतीक्षक जैसी है जो धूपमें खड़ा हुआ प्रतीक्षा कर रहा है। ऐसी स्थितिमें इस सतप्त पुरुषके पुण्यका आस्रव तो क्या होगा और पापके ही आस्रव होते हैं जिससे परम्परा आगेकी और बिगड़ती है।

अन्तस्तत्त्वके रुचियाकी दु:ख सुख दोनोंमें उपेक्षा—जिसको योग्य साधन मिले हैं उसे यह अवसर है कि वह कुछ धर्मकार्योंमें अपनी प्रगति और प्रवेश बना ले। यों इस दृष्टिसे पुण्यास्रव, पापास्रवकी अपेक्षा भला है, किन्तु जिसे एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके विकासकी ही रुचि है ऐसे पुरुषको अन्य और कुछ नहीं सुहाता। केवल एक शुद्ध अतस्तत्त्वका ही दर्शन सुहाता है। वह पुण्यास्रवको और पापास्रवको हेय मानता है। यहा इस ओरसे देखिये—ससारमें जीवोंको सुख और दु:ख इन दो का भोग लगा हुआ है। कोई जीव सुख भोगते हैं और कोई जीव दु:ख भोगते हैं वह दु:ख भी क्या है और यह सुख भी क्या है? दु:ख—वह है जहा इन्द्रियोंको बात भली न लगे। जैसे अनिष्ट रस खाना ही पड़े, अनिष्ट रूप देखना ही पड़े, अनिष्ट गध सूँघना ही पड़े, अनिष्ट स्पर्श करना ही पड़े ऐसी स्थिति में इस जीवके दु:ख उत्पन्न होता है और सुख क्या है? जहा इन्द्रियोंको सुहावना लग जाय। सुन्दररूप इसे सुहावना लगता है, ऐसी स्थितिमें इसे सुख होता है, किन्तु कुछ स्वरूपकी ओर दृष्टि डालें तो स्वरूपके समक्ष सुख दु:ख ये दोनों परिणमन विकार हैं, परभाव हैं, क्लेशरूप हैं, इस कारण दोनों हेय हैं, दोनोंके कारण हेय हैं।

सुख दु:खमें, पुण्यपापमें, शुभ अशुभ भावमें समानता और कर्तव्य—विकार होनेके कारण जितना गदा परिणाम दु:ख भोगनेका है उतना ही गदा बल्कि यों कह लीजिए कि उससे भी अधिक गदा इन्द्रियजन्य सुख भोगने

का परिणाम है। दु:ख आये तो उन दु:खों को भोगता है, सहता है, एक तो इस जीवके अन्तरका यह परिणाम और इन्द्रियजन्य सुखोंको ललचाता है, उन सुखोंकी ओर झुकता है, उनमें अपना उपयोग फँसाये है एक उसका यह विकार परिणाम। कहनेमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उस दु:ख भोगनेकी अपेक्षा सुख भोगनेका परिणाम अधिक गदा होता है विकारोंकी दृष्टिसे देखो, तब ऐसा दु:ख मिला, किस निमित्तसे पापोंका उदय आया, अतएव और ऐसा इन्द्रियजन्य सुख मिला किस निमित्तसे, पुण्यका उदय आया किस निमित्तसे ? तब ये पुण्य और पाप दोनों भी सुख दु:खके समान विकार हैं और गदे हैं। यहाँ तक तो रही पुण्यकर्म और पापकर्मकी बात। अब आगे और चलिए ये पुण्यकर्म व पापकर्म बंधे कैसे हैं ? इस जीवने शुभ व अशुभ परिणाम किया उससे। तो जब पुण्य और पाप दोनों विकार और बन्धनकी दृष्टिसे समान हैं तो इनके कारणभूत ये शुभ भाव और अशुभ भाव भी समान हैं। यह समता तत्त्वज्ञानी पुरुषके उत्पन्न होती है। इस श्लोकमें शुभकर्मका आस्रव किस काययोगसे होता है ? इसका इसमें वर्णन चल रहा है। कायगुप्तिके कारण, कायोत्सर्गके कारण जो स्थिति बनती है उस स्थितिमें जो योग रहता है उस योगके निमित्तसे पुण्य प्रकृतियोंका आस्रव होता है।

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥१७६॥

आरम्भयोगोंसे पापास्रव—निरन्तर आरम्भके योगसे और जीवघातक व्यापारोंसे यह काययोग पापकर्मका संचय करता है अर्थात् अशुभ काययोगसे अशुभास्रव होता है। यह अशुभ काययोग है कि निरन्तर आरम्भ आरम्भमें ही लगे रहें। जैसे किसी पुरुषके कितने ही अधिक मिल हैं, फैक्टरी हैं, दुकान हैं, अनेक काम हैं तो उन कामोंमें निरन्तर चित्त बना रहता है। जैसे कि लोग कहते हैं कि हमको तो जरा भी फुरसत नहीं मिलती, इसके बाद यह इसके बाद यह। तो जैसे निरन्तर आरम्भके ही कार्य लगे हैं उनमें जो शरीरकी प्रवृत्तियां होती हैं उसके निमित्तसे जो योग होता है वह पापास्रवका कारण बनता है। सूत्रजी में तो बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहके परिणामको अत्यन्त अधिक बुरा कहा है। अधिक आरम्भकी परिस्थितिमें इस जीवको अपने आत्माकी सुध होनेका मौका कम मिलता है अथवा नहीं मिलता है।

रौद्रध्यानोंसे विशेषतया पापास्रव—दु:ख भोगनेकी स्थितिमें या यों कहो कि आर्तध्यानकी स्थितिमें तो स्वरूपकी सुध रह भी सकती है, पर विषय-संरक्षणमें आनन्द मानना ऐसी तीव्र रुचि में आत्माकी सुधका मौका

नहीं रहता। इसी विश्लेषणको स्पष्ट करने वाला यह प्रतिपादन है कि आर्तध्यान तो छठे गुणस्थान तक रह सकता है, किन्तु रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक ही रह पाता है। और इसमें भी कुछ विशेषतासे विचार करें तो रौद्रध्यान भली प्रकार तो मिथ्यात्व अवस्थामें रहता है। सम्यक्त्व जगने पर रौद्रध्यानका कुछ झुकाव नहीं है, किन्तु हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह सम्बन्धी जो प्रवृत्तियां थीं उन साधनोंमें ही रहनेके कारण गृहिदशामें उनसे विराम नहीं मिला है अतएव रौद्रध्यान विषय है, किन्तु यह आर्तध्यान तो स्पष्ट दिखता है। किसी धर्मीका वियोग हो, किसी साधुका मरण हो, कोई सुयोग्य शिष्य अलग हो रहा हो, अनेक ऐसी स्थितियां आती हैं तो उनके चित्तको खेद पहुंचता है। यद्यपि साधुजनोंका खेद देर तक नहीं रहता, क्योंकि वहाँ प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत गुणस्थान बराबर बदलता रहा करता है। छठे गुणस्थानकी स्थिति दो चार मिनट भी नहीं रहती, इसके भीतर ही ७ वां गुणस्थान भी हो जाता है।

प्रमत्तविरत व अप्रमत्तविरतका पुनः पुनः परिवर्तन—प्रमत्तविरत व अप्रमत्त गुणस्थान अन्तर्मुहूर्तमें बदलते रहते हैं। इससे शुद्ध वृत्तिकी भी परख हो जाती है। जो साधु लगातार अनेक मिनट अथवा घंटा किसी प्रमाद प्रमादमें ही लग रहा है, अन्तरमें अप्रमत्त दशा नहीं आती है तो उसका वह प्रमाद छठे गुणस्थानमें न रहकर नीचे गुणस्थानका बन जायेगा। यह परिणाम अंतः प्रकट है। कोई साधु बन गया, नग्न दिगम्बर हो जाने पर भी अथवा उसके छठा गुणस्थान भी हो जाय, इतने पर भी यह सम्भव है कि है तो वह मुनि, पर गुणस्थान ५वां हो जाय। है वह मुनि पर गुणस्थान चौथा तीसरा दूसरा पहिला हो जाय। यह परिणामकी बात है। यद्यपि उस साधुके भीतर मिथ्यात्वकी अवस्था आने पर भी बाहरमें कुछ अन्तर नहीं दिखता, वही समिति, वही व्रत, वही सब कुछ, लेकिन यह तो परिणामोंकी बात है। यों प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत बराबर बदलते रहते हैं। ऊँचा परिणाम होना, हलका परिणाम होना, ये दोनों परिवर्तन होते रहते हैं।

रौद्रध्यानको विपदा माननेका पुरुषार्थ—अब समझ लीजिए कि आर्तध्यानसे उतनी खराबी नहीं हो पाती जितनी कि रौद्रध्यानसे पहुंचती है। हम आप इसमें बड़ा विपदा समझें कि हमारा उपयोग किसी विषयमें रमे, आसक्त रहे, उसकी ओर ही रुचि जगे और सबसे निर्मल विविक्त चैतन्यस्वरूपकी हम सुध न ले सकें, ऐसी स्थिति बने उसको बड़ी विपदा समझना चाहिए। वह हर्ष माननेकी स्थिति नहीं है जो पुरा समाजमें रहकर भी

सुख दुःखसे उपेक्षा करता है, निर्लेप रहता है उसका बचाव होता है। जैसे नाव पानीमें रहती है। पानीमें रहकर भी नावके भीतर चूँकि पानी नहीं है इसलिए तिर जाती है। पानीमें नावके रहने से कुछ बिगाड़ नहीं है, पर पानी नावमें आ जाय तो नाव डूब जाती है, उससे बिगाड़ है। इसी प्रकार हम समागमके बीच रहते हैं, संसारमें रहते हैं उससे कुछ बिगाड़ नहीं है किन्तु हममें संसार बसे, हम ससारकी वस्तुवोंको बसायें अपने उपयोगमें तो उससे हमारा बिगाड़ है।

सासारिक सुखकी परिस्थितिमे बिगाड—हम दुःख पानेको अहित मानते हैं और सुख पानेको भला मानते हैं, इस मान्यतामें शोधन करना होगा। कदाचित् दुःखकी स्थिति आये, वह मेरा उतना बिगाड़ न कर सकेगी जितना कि सुखकी स्थिति आने पर उस सुखमें मग्न हो जाय तो उसमें बिगाड़ होगा। तो जब कोई जीव निरन्तर आरम्भ कर रहा है, उसे प्रभुभक्तिका, गुरुसेवाका कुछ भी समय नहीं प्राप्त है और रात दिन उन्हीं चिन्ताओंमें आरम्भ बसता है तो उसके पापकर्म बँधते हैं।

खोटे व्यापारोंमें पापास्रव—ऐसे ही जीव खोटे कार्योंसे, खोटे व्यापारों से पापका बंध करता है। पहिले समयमें जैन समाजमें यह प्रथा थी कि जूतोंका, लोहेका ऐसे ही और अन्य खोटा व्यापार नहीं करते थे, इस बात को यदि विशेषतासे बताया जाय तो लोग कहेंगे कि यों तो किसीका भी काम न चलेगा। लेकिन जो बात जैसी है वह बात वैसी रहेगी ही। गृहस्थजन यह विवेक रक्खें कि जिससे जंतुवोंका घात होता है ऐसे व्यापारोंसे अलग रहें और प्रत्येक व्यापारोंमें हम यह सावधानी बनाएँ कि हमसे प्राणघात न हो। जतुवोंका घात करने वाले व्यापारोंसे भी पाप-कर्मोंका आस्रव होता है।

आस्रव निरोधके अर्थ यत्न—यह आस्रव दुःखदायी है। आस्रव दुःख कार घनेरे। बुधवंत तिन्हें निरवेरे, यह विकाररूप भाव होनेका ही नाम आस्रव है। ये विकार स्वय दुःखरूप हैं, इसमें दुःखरूप फल मिलेगा और यह दुःखपूर्वक ही उत्पन्न किया गया है। इस आस्रवसे विविक्त अपने सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपकी दृष्टि करना, यह है एक कर्तव्य। इन सब बातोंके लिए तब एक निर्णय रक्खे कि ज्ञानकी वृद्धि करना है। ज्ञान बढ़ाने में जो आनन्द होता है, सुखानुभूति होती है वह सुख इन विषयभोगोंके सुखसे विलक्षण है। किसी तत्त्वकी जिज्ञासा हो और उसका समाधान मिल जाय उसका बड़ा आनन्द होता है।

ज्ञानसे आनन्दकी प्राप्तिपर दृष्टान्त—अभी किसी बालकसे सवाल पूछें—बतावो ५ पजे कितने होते हैं तो वह बालक उसे सुनकर पहिले तो

कुछ विह्वल सा हो जायेगा लेकिन जब वह बता देता है पहाड़ा पढ़कर ७ पजे ३५ तो वह कितना खुश होता है ? उसको यह खुशी किस बातकी हुई ? उसे मिठाई नहीं खिलाई जा रही है, कुछ भी तो नहीं खिलाया पिलाया जा रहा है। जो रोकड़ बही बनाता है, हिसाब लगाते लगाते अन्तमें दो आनेका फर्क रह गया, ठीक हिसाब नहीं मिलता है तो वह दो आनेके घाटेमें कितना तो दिमाग दौड़ाता है, कितना-कितना परेशान होता है ? उस दो आनेका जब तक सही हिसाब नहीं मिल जाता तब तक उसे सन्तोष न होता। उस दो आनेके पीछे वह रात भर जग भी सकता है और कहो ४–६ आनेकी बिजली भी खर्च करदे और जब वह फर्क मिल जाता है तब उसकी मुद्रा देखो। तो ज्ञान प्राप्त होनेका एक विचित्र ही आनन्द होता है।

ज्ञानार्जनका कर्तव्य--संसारके जितने भी समागम हैं, इन समागमों मे से कोई भी समागम हम आपके लिए हितकारी न होगा, कोई भी साथ न निभायेगा, किन्तु अपने स्वरूपका ज्ञान बने तो इस स्वरूपको निरखकर जहा चाहे किसी भी जगह किसी भी परिस्थितिमें हम प्रसन्न रह सकते हैं, निर्मल रह सकते हैं, और इन उपायोंसे किसी समय सर्व कर्मोंसे, बन्धनोंसे, शरीरबन्धनसे सबसे छूटकर हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। तो कर्तव्य ज्ञानवृद्धिका होना चाहिए। ज्ञानके सामने धनका महत्व न बनायें। जो पुरुष धनको ही महत्व देता है- और ज्ञानका कुछ महत्व नहीं समझता, उसकी तो दयनीय स्थिति है। सबसे अधिक महत्व ज्ञानका है। अपने जीवनमें धनार्जनका भी उतना ध्यान न रखकर ज्ञानार्जनका ही विशेष ध्यान रख। और देखिये—ज्ञानार्जनका उद्यम करें तो नियमसे ज्ञान मिलेगा। उस ज्ञानसे ही आनन्द मिलेगा।

कषाया· क्रोधाद्या' स्मर सहचरा: पञ्चविषया ।
प्रमादा मिथ्यात्व वचनमनसि काय इति च ॥
दुरन्ते दुर्ध्योर्ने विरतिविरहश्चेति नियतम् ।
स्रवन्त्येते पु सा दुरितपटल जन्मभयदम् ॥१७७॥

मिथ्यात्वका महापाप—जीवोंका यह अशुभ परिणाम नियमसे पाप का ही आस्रव कराता है। उन अशुभ परिणामोंमें प्रधान तो है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह ये एकार्थवाचक है। कोई पुरुष ऐसी शका करते हैं कि जिन्हें मालूम है कि जलमें जीव होते हैं वे जल छानकर न पियें तो उन्हें पाप लगेगा और जिन्हें पता ही नहीं है कि जलमें जीव होते हैं और वे अनछना ही पियें तो उनको पापका क्या काम ? ऐसे ही सभी प्रसगोंमें समझ लीजिए, लेकिन तत्त्वकी बात यह है कि मन, वचन, काय

की बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तियोंसे जो पाप लगता है उससे भी अधिक पाप अज्ञान का होता है। भला ज्ञानस्वरूप यह आत्मा जिसको ज्ञानस्वरूपरूपसे विदित न हो, इसको कितना अंधेर खाता कहा जाय ? अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह यह तो महापाप है।

अज्ञानमें क्लेशकी विशेषता—जो अज्ञान मोह पापमें बस रहा हो उसके तो पापका प्रतिसमय आस्रव बध चल ही रहा है। जैसे पीछे या अगल बगल कोई आगका अगारा पड़ा है जो सामने नहीं है, जो हमें दिखता नहीं है। कोई पुरुष मुझे धक्का दे या मैं ही अपने आप पैर बढ़ लूँ और आगपर रख लूँ तो उस समय मैं कितना जलूँगा और एक हमें पता है कि यह सामने आग पड़ी है और कोई धक्का दे तो हमें आगे बढ़ना पड़ता है और बढ़कर हम उस आग परसे ही जा रहे हैं उस समय देखलो हम कितना बढ़ते हैं ? जानी हुई स्थितिमें हम कम जलेंगे और अनजानी स्थितिमें आगपर पैर रखनेसे हम अधिक जलेंगे। विशेष क्या कहें, इतना ही समझ लीजिए कि मोहका पाप सब पापोंसे बुरा पाप है।

मिथ्यात्वसे पापास्रव और उसके निराकरणका यत्न—प्रथम तो इस जीव को मिथ्यात्वका ही अशुभ परिणाम लगा है। उस परिणाममें इस जीवके पापकर्मोंका आस्रव हो रहा है। अन्य जितने भी पाप होते हैं वे सब पाप इस मोहराजकी सैन पर होते हैं। जहा मोहका क्षय हो गया वहाँ अन्य पाप अपनी स्थिति नहीं बना सकते, वे दृढ नहीं हो सकते, इस कारण धर्मपालनकी दशामें सर्वप्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हमारा मोह भाव टूटे और हम आत्माके यथार्थस्वरूपका दर्शन करें। इसके लिए बुद्धिपूर्वक उपाय तो ज्ञानार्जनका है। ज्ञानार्जनमें भी गुरुमुखसे ज्ञानार्जन का बहुत महत्व है, वह भी करें और अपने आप स्वाध्याय आदिक करके भी ज्ञानार्जन करें। अपने जीवनमें ज्ञानके अर्जनकी धुन बनाना चाहिए और उस ज्ञानके अर्जनसे अपने आपको प्रसन्न रखना चाहिए, यह प्रोग्राम हो। बाकी जो कुछ होता है, जैसी स्थिति है उसमें गुजारा और व्यवस्था करनेकी अपनी कला बना लेनी चाहिए।

पापास्रवोंमें मुख्य मिथ्यात्व—जिन जीवोंके विकार परिणामके द्वारा पापकर्मोंका बन्धन होता है उन अशुभ परिणामोंके वर्णनमें मिथ्यात्व नामक अशुभ परिणामकी बात चल रही है। मिथ्यात्व भाव वहां है जहां अत्यन्ताभाव वाले परपदार्थोंके साथ अपने जुड़ावकी कल्पनाएँ हैं। मिथ्यात्व भाव वहां है जहा वस्तुके यथार्थस्वरूपका भान नहीं है और इसी कारण परवस्तुवोंमें जो अन्तः आकर्षण चलता है इस मिथ्यात्व भावके दो प्रकट अग हो गए हैं—अहकार और ममकार। अत्यन्त भिन्न वस्तुमें

'यह मैं हूं' इस प्रकारका भाव करना अहंकार है और 'यह मेरा है' इस प्रकारका आशय रखना ममकार है। संसारका मूल मिथ्यात्व है। इस जीवका मूल बैरी मिथ्यात्व है, जिस परिणामके वश होकर अनादि कालसे यह जीव नाना कुजन्मोंमें जन्म लेता चला आया है। मिथ्यात्व भावके दूर हुए बिना आत्मकल्याणके लिए कोई पथ नहीं मिल सकता, यह महापाप है और पापोंका आस्रव करने वाला है।

क्रोधकषायसे आस्रव—पापास्रवके कारण व पापास्रव हैं मोहके बाद क्रोधादिक कषाय। कषाय शब्द बना है कष् धातुसे। जो आत्माको कसे उसे कषाय कहते हैं। कसनेमें क्लेश है। जैसे कोई मनुष्य अथवा पशुको रस्सी आदिकसे कसे हों तो वह पीड़ाका रूप है। यह जीव जिन भावोंसे कसा जाता है दुःख रूप होता है वह भाव कषाय है। चार प्रकारकी है वे क्रोध, मान, माया, लोभ। जब इनके स्वरूपपर दृष्टि करें तो सुविदित हो जायेगा कि इस जीवकी ये कषायें ही तो बैरी हैं। आनन्दमें बाधा डालने वाले ये कषाय भाव ही तो हैं। क्रोध हो तब इस जीवको कुछ सुध नहीं रहती है, रहे सहे गुण भी जल जाते हैं। कोई जीव बड़ा उपकारी है, पर वह क्रोध करे तो दूसरोंकी दृष्टिमें उसके सारे गुण धुल जाते हैं याने उनसारे गुणों पर पानी फिर जाता है। क्रोध करनेसे उसके सारे गुण ओझल हो जाते हैं। क्रोधको चाण्डालकी उपमा दी है। अब समझ लीजिए कि इस क्रोधके द्वारा हम अपना कितना अनर्थ कर डालते हैं? क्रोधसे हमारा जो अनर्थ होता है उस समय हमें ज्ञात नहीं रहता, पर पता पड़ जाता है कुछ समय निकलनेके बाद कि मैंने गलती की थी और इस गल्ती के फलमें मुझे यह अनर्थ भोगना पड़ा।

मानकषायसे आस्रव—अहंकार कितनी व्यर्थ की सी चीज है। किसे अहंकार दिखाते हो? यहां कोई तुम्हारा प्रभु है क्या? कोई रक्षा करने वाला भी है क्या? किसे अपनी चतुराई, किसे अपना अस्तित्व दिखाना चाहते हो? अरे ये सभी प्राणी हम ही जैसे तो भूले भटके संसारमें रुलने वाले आशय मलिन, दीन स्वयं हैं वे। उनमें अपना क्या मान रखना चाहते हो? जो पुरुष अहंकारके वश है और इस कारण उसके अंतरंगमें विह्वलताके क्षोभका जो परिणाम हुआ है उसे वही भोगता है। मानमें भी कोई सारकी बात नहीं है और अचरजकी बात तो देखो—हम तो मान करते हैं इसलिए कि दूसरोंकी दृष्टिमें हम उच्च कहलाने लगें। फल यह होता है कि सब लोग हमें अधम समझने लगते हैं। कितना अंधेरा है? मान तो करने चला यह जीव बड़प्पन पानेके लिए, किन्तु उस प्रवृत्तिमें फल मिला यह कि लोग मुझे अधम मूर्ख समझने लगे।

मायाकषायसे आस्रव—मायाचारका परिणाम तो एक शल्य बन जाता है। मायाचारको शल्य कहा है। जैसे पैरमें कांटा लग जाय तो कितनी वेदना रहती है, चलते फिरते बैठते दर्द होता रहता है, तो जैसे कॉटा चुभा हो तो वह शल्य बन जाता है, इसी प्रकार मायाचारका परिणाम इस जीवको शल्य बन जाता है। कुछ घटना हो तो अर्थ अपने पर लगाइयेगा। बहुतसे मायाचारी जीव तो अपनी ही कमजोरी और शल्यके कारण खुद अपना मायाचार प्रकट कर देते हैं और लोग समझ जाते हैं। मायाचारसे भी इस जीवको दु:ख ही है। यह जीवको कसने वाली ही कषाय है।

लोभकषायसे आस्रव—लोभका रंग तो बहुत विचित्र है। कैसा रंग फैल गया है इस जीवमें? रग-रगमें सर्वप्रदेशोंमें सर्व गुणोंपर आवरण डालते हुए यह राग यह तृष्णा लोभ कैसा इस जीव पर छाया है? है कुछ नहीं इसका मरने पर तो प्रकट ही सब जानते हैं कि कुछ साथ नहीं ले जाता, लेकिन इसे धैर्य कहां? लोभ कषायका रंग जिसपर चढ़ता है उस के गम्भीरता कैसे हो सकती है? तो ये क्रोधादिक कषायें पापकर्मका आस्रव करती हैं।

विषय-अविरतिसे आस्रव—इसके बाद तीसरे नम्बर पर पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंको रख लीजिए। ये इन्द्रियोंके पांचों विषय कामदेवके सहचर हैं। सहचर उसे कहते हैं जो साथ-साथ चले, पीछे न चले। पचेन्द्रियोंके विषय ये कामके सहचर हैं। अच्छे शब्द सुननेसे; राग भरे शब्द सुननेसे कामको ही तो प्रोत्साहन मिलता है। सुन्दर रूप निरखनेसे कामको ही तो प्रोत्साहन मिला। अच्छे सुगंधित वातावरणमें रहना, रसीले गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन करनेसे, उस ओर आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति होनेसे इस स्मरको ही तो सहयोग मिला। स्पर्शका स्पर्शन करनेसे इस स्मरकी ही तो जागृति हुई। ये ५ विषय कामके सहचर हैं, इस कारण योगी साधुसंत इन पंच-विषयोंसे विरक्त रहते है। ये पञ्चेन्द्रियके विषय भी पापका आस्रव कराते हैं।

प्रमादसे आस्रव—चौथी बात निरखिये प्रमादकी। प्रमाद १५ प्रकार के होते हैं। जिन प्रमादोंसे यह जीव प्रमत्त कहलाता है। चार सो विकथायें हैं। राजाओंकी कथा करना, अमुक राजा यों, अमुक राजा यों, राजाओं का कथन करना, यह राजकथा नामका प्रमाद है। भोजनकी कथा करना, कहो जी आज तुम्हारा आहार कैसा रहा, क्या खाया, आज तो मेरा आहार ऐसा ही रूखा सूखा रहा अथवा आज बहुत अच्छा रहा, किसी प्रकारकी चर्चायें करना ये सब भोजन कथाएँ है। यह प्रमाद है। प्रमाद

का अर्थ मोक्षमार्गमें अनुत्साह होना है। जिस जीवको मोक्षमार्गमें उत्साह नहीं है वही तो बेकार है और जो बेकार होगा वही गप्प सप्प लगायेगा। तो मोक्षमार्गकी ओरसे बेकार पुरुष इन कथाओंको किया करते हैं। एक देशकथा है। किस देशमें कैसा रिवाज है, कैसा श्रृङ्गार है, कैसे लोग रहते हैं, देशकी व्यवस्थाएँ प्रबंध और वहा की विशेषताओंका वर्णन करना यह देशकथा है। यह भी प्रमाद है। एक स्त्रीकथा है। स्त्री सम्बन्धी कथा करना, अमुक स्त्री यों है, अमुक स्त्री यों है ये चार विकथाएँ हैं, प्रमाद हैं। ४ कषायें भी प्रमाद हैं और ५ इन्द्रियोंके विषय प्रमाद हैं। तथा स्नेह और निद्रा, इस प्रकार ये १५ प्रमाद हुए हैं। प्रमादके परिणाम पापोंका आस्रव करते हैं।

योगसे आस्रव—योग तो आस्रवका मूल है काय वचन और मनका योग। कायकी प्रवृत्ति करना काययोग है। इस कायको इष्ट विषयसाधन के कार्योंमें लगाना, इससे पापोंका आस्रव होता है। वचन खोटे बोलना अहितकर, अप्रमाणिक वचनोंसे पापका आस्रव होता है। यों ही मनकी सकल्पना कल्पनाएँ बढ़ानेसे भी पापास्रव होता है। मनका विषय काम है और लोकेषणा आदिक भी हैं, नाना विषय हैं। मनके विषय नियत नहीं हैं। जैसे इन्द्रियका विषय हम नियत कह डालते हैं ना, स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है, रसना इन्द्रियका विषय रस है, घ्राणका गंध, चक्षुका रूप और श्रोत्रका शब्द है। यों मनका क्या एक विषय है? नियत नहीं कर सकते। उसकी चाल तो बहुत दूर-दूर तक चलती है। स्मरका दूसरा नाम है मनोज। यह कामविकार मनसे उत्पन्न होता है। जैसे भूखका रोग है। यह केवल कल्पनाओंसे सम्बन्ध नहीं रखता। पेट खूब भरा हुआ हो और सामने बहुत बढ़िया फूली हुई रोटी उतर रही हो तो यह कैसे डालें? पेट में। कुछ कल्पनासे बात बनती है क्या? कल्पना किया कि खूब भूख लगी है। तो यों कल्पनाएँ करने भरसे तो पेटमें रोटिया न समा जायेंगी, ऐसे ही शरीरके अन्दर रोग है, इस तरह रोग और भूख प्यासकी तरह यह नहीं है कि जिसका समय नियत हो, कोई घटना नियत हो कि ऐसे समय काम पर ही कामविकार हुआ करता है। वह तो मनोज है। जब वह मन उद्दण्ड हुआ और तभी मनकी कल्पनाएँ जगीं, लो मनोज हो गया। यह भी पापका आस्रव करता है।

दुर्ध्यानसे आस्रव—इससे आगे निरखिये दुर्ध्यानको। ४ प्रकारके आर्तध्यान और चार प्रकारके रौद्रध्यान ये पापका आस्रव करने वाले हैं। आर्तध्यानमें क्लेश पड़ा हुआ है और रौद्रध्यानमें मौज माना जाता है। इन दोनों प्रकारके ध्यानोंमें आर्त और रौद्र ध्यानमें पापके आस्रवका हेतु-

पना पाया जाता है। अरतिविरति, व्रतका त्याग। कोई मनचले लोग इस प्रसंगमें जब कि कोई उपदेश दे रहा हो, देखिए आप लोग कुछ त्याग कीजिए तो कोई यह कह सकेगा कि हां साहब हम त्याग करते हैं। अच्छा करो त्याग। काहे का ? हम त्यागका त्याग करते हैं, तो व्रतोंका वियोग होना, यह भी पापका आस्रव कराने वाला है। इन परिणामोंका फल पापबंध है और इसके कारण भावीकालमें भी इसे क्लेशका ही सामना करना पड़ता है। यद्यपि यह आत्मा शुद्धनिश्चयकी दृष्टिसे आस्रवरहित है अब भी, संसारमें रहते हुए भी हम आप अपने आपके स्वरूपपर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि हम आपका स्वरूप स्वभावतः अपने आपके अस्तित्व के कारण समस्तविकारोंसे है केवल ज्ञानस्वरूप है तो भी अनादि कर्मके सम्बन्ध से यह मिथ्यात्व आदिक परिणामोंरूप परिणमता है, इस कारण यह प्राणी नवीन कर्मोंका आस्रव करता रहता है।

कल्याणलाभका पुरुषार्थ—जब यह जीव भेदविज्ञानके अभ्याससे उन मिथ्यात्व आदिक परिणामोंसे अपना विलगाव करे, स्वभावका लगाव करे, अपने स्वरूपका ध्यान करे तो कर्मास्रवसे रहित होता है। अलग शब्द कहांसे लाया गया है ? न लग इति अलग। लगे नहीं उसका नाम अलग है। अलग हो अर्थात् लगाव न रहे, इस प्रकारसे बन जाय उसे कहते हैं अलगाव। लगाव किससे था ? लगाव था इस जीवका आस्रव परिणामोंसे, उनका लगाव मिटे, उन भावोंका अभाव हो तो इस जीवको कल्याणपना मिलता है। इस बातको समझनेके लिए और इस कल्याण भावनाके लिए आस्रव भावनाका विचार संत जन किया करते हैं। यह आस्रव महादुःखमयी है। ये खोटे परिणाम ही मेरे वास्तविक वैरी हैं, इन वैर परिणामोंसे अपनेको अलग हटा लेनेमें ही लाभ है।

मिलनका सदुपयोग—इस असार संसारमें इस अशरण लोकमें हम आप यदि आज इकट्ठे हो गए हैं। चाहे कोई परिवारके रूपमें इकट्ठे हों और चाहे कुछ लोग समाजके रूपमें इकट्ठे हों अथवा धर्मधर्मी गुरु शिष्य आदिके रूपमें मिले हुए हम आपके इस मिलापका वास्तविक फल यही है कि एक दूसरेको धर्ममें स्थिर करें, धर्मसे न डिगने दें, अधर्मसे हटावें, ऐसी प्रवृत्ति बने तो यह समागम भी सफल है। चाहे परिजन परिवाररूप समागम हो वहां भी भाई भाईको, पिता पुत्रको, पुत्र पिताको, पति पत्नीको, पत्नी पतिको, कोई भी किसी अपने सम्बन्धीको धर्ममें लगाए, अपना ऐसा व्यवहार बनावे कि जिससे दूसरे भी शान्त सुखी रहें और धर्मका प्रकाश पाते रहें, ऐसा व्यवहार बन सके तो यह कुछ काम का है और केवल विषाद विषय कषायोंका भोगना विषय कषायोंमें हुद-

गर्जी, इनमें ही समय बीता तो वह समय निष्फल है, बेकार है। काहेका मोह ? उस मिलनमें तो और बुरा असर हुआ, एक दूसरेको दुःखका कारण बना। कर्तव्य यह है कि हम अपने इस क्षणिक समागमसे कोई तात्त्विक बात लें, अट्टसट्ट बातोंमें समय न गुजारें।

—संवर भावना—

सर्वास्रवनिरोधो यः संवर स प्रकीर्तितः।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुन.॥१७८॥

सवरका स्वरूप—समस्त आस्रवोंका निरोध होना उसे संवर कहते हैं। यह सवर दो प्रकारका है—द्रव्यसंवर और भाव सवर। द्रव्य सवर नाम है कार्माणवर्गणामें मिथ्यात्व न आने देना। यह द्रव्य संवर है। भावसवर नाम है अपने परिणामोंमें विकार न आने देना। सवरकी व्याख्या अध्यात्मसूत्रमें यह कही है विकारानुत्पत्तिः सवर'। सवरके आगे भेद करते हैं द्रव्यसवर, भावसवर, तो जो भेद किये जाते हैं उन भेदोंका जो एक मूल है वह स्वरूप दोनों भेदोंमें लेना चाहिए, तब ऐसा वह भेद है। जैसे जीवके दो भेद किए गए—एक संसारी और एक मुक्त। तो ससारीमें केवल जीवपना घटित हुआ और मुक्तपना घटित हुआ तब तो वे जीवके भेद हैं। नहीं तो कोई कहने लगे उसके दो भेद हैं—एक संसारी और एक चौकी। ठीक रहा ना ? यह तो अट्टसट्ट बोलना है। ससारीमें जीवत्व है पर चौकीमें कहा जीवत्व है। तो जिनके भेद किए जाते हैं उनका स्वरूप भेदमें घटित होता है, तो संवरका स्वरूप है विकार नहीं आने देना। तो कार्माणवर्गणामें कर्मत्वका आना, यह एक विकार है कर्मका। कार्माणवर्गणामें उनका यह विकार नहीं आ सकता यही है द्रव्यसवर और जीव परिणाममें जीवका विकार न आ सके, यही है भावसम्वर। ये दोनों प्रकारके संवर ज्ञानी जीवोंके रहा करते हैं।

जीवका परपरिणतिपर अनधिकार—द्रव्यसंवर पर जोवका अधिकार नहीं है, आस्रव पर भी अधिकार नहीं है, द्रव्यकर्मके आस्रवपर सवर पर निर्जरा अथवा मोक्षपर जीवका अधिकार नहीं है। जीव तो जो कुछ भी कर सकेगा, परिणाम सकेगा वह अपने ही प्रदेशोंमें अपनी ही शक्तिके परिणमनमें परिणाम सकेगा। तो जीवका पुरुषार्थ जीवका अधिकार अपने भाव बनानेमें हैं। अपने भाव करनेसे अर्थात् अन्य पदार्थमें कुछ परिणति करने पर मेरा अधिकार नहीं है। यद्यपि यह बात अविनाभावरूप है कि जीव यदि शुद्धभाव करे तो कर्मोंका सवर होगा ही, जीव अशुद्ध भाव करे तो कर्मोंका आस्रव होगा ही। ऐसा अविनाभाव रहा आये, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध रहा आये, फिर भी इस जीवका अधिकार परिणमन उस

पदार्थमें नहीं है। जैसे यद्यपि रोज यह देखते हैं कि महिलाएँ रोटी यों बनाती हैं, सेंका, बनाया, रखा, सब कुछ दिख रहा है, इतने पर भी महिलाका अधिकार महिलाके हाथका कर्तव्य रोटीके सिकनेका, बेलनेका बनानेका अधिकार नहीं है, किन्तु हो रहा है, अविनाभूत सम्बन्ध है। कोई भी पदार्थ अपना परिणमन अपने प्रदेशोंसे आगे नहीं करता है। तब बतलावो उस महिलाका कर्तव्य कितने तक है, बस जैसे हाथ चलते हैं, उतने तक कर्तव्य है। उस प्रसंगमें प्रत्येक वस्तु किस-किस प्रकार परिणमती है? यह उस वस्तुकी बात है।

आत्मभावना और आत्मदया—जीव केवल अपने परिणामोंकी संभाल तक ही समर्थ है, इससे आगे जो कुछ होता है परमें वह सब निमित्त-नैमित्तिक भावकी बात है। तब यही तो हुआ ना कि हमारी ही भावना ससारका नाश कर सकती है, हमारी ही भावना इस ससारको बढ़ा रही है। इस भावनाके ही हम अधिकारी हैं, तब देखिए जब केवल एक भावना करने मात्रसे ससारका हो जाना, मोक्षका हो जाना इतने बड़े अन्तर वाले काम होते हैं तब हमारा क्या यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम ऐसी भावना बनायें जिसके फलसे ससारके संकटोंसे मुक्त हो सकें? हम ऐसी भावनाकी सृष्टिमें लगें, वह भावना शुद्ध आशय बनानेसे होती है। आशयकी अशुद्धता तो खुदके लिए बिगाड़की बात है। हम परका कुछ नहीं करते, अपना अभिप्राय निर्मल रखनेका यत्न करें यही अपने आप पर सच्ची दया है।

य: कर्मपुद्गलादानविच्छेद: स्यात्तपस्विन: ।
स द्रव्यसंवर: प्रोक्तो ध्याननिर्द्धूतकल्मषै: ।।१७६।।

कर्मकी क्लेशहेतुता—द्रव्यकर्मके संवरका स्वरूप—इस जीवके साथ क्रोधादिक कषायोंके कारण, मन, वचन, कायके योगके कारण बहुतसा विरुद्ध वातावरण लगा हुआ है, अर्थात् कर्मोंका संग लगा हुआ है। ये कर्म इस जीवको बडे-बडे क्लेशके कारण बनते हैं। आदिनाथ भगवान जो ब्रह्माके रूपमें प्रसिद्ध हुए, युगके अन्तमें जो जनताके आधार थे और इस भरतक्षेत्रमें १८ कोड़ाकोडी सागरके बाद धर्मके प्रथम नेता हुए वे मुनि हुए। मुनिपद धारण करनेके बाद ६ महीने तक लगातार चर्याको रोज जाते रहे किन्तु अन्न जलका सुयोग न मिला। ऐसे ही बड़े-बड़े महापुरुष न रायण बलभद्रोंकी भी ऐसी ही कहानियां भरी पड़ी हुई हैं। ये कर्म इस जीवको बड़े क्लेशके कारण हैं। इस समय भी देखलो बड़ा घर है पर उसके परिवार लड़के या अन्य सम्बन्धी किसी भी विरुद्ध तरहके उदय वाले है। यहां भी बड़ी विचित्रताएँ नजर आती हैं। उन कर्मोंके रोकनेका कुछ

उपाय किया गया तो तो भला है, नहीं तो कर्मोंके प्रेरे ये जीव ऐसे ही संसारमें भटकते रहेंगे।

द्रव्यकर्मके संवरका स्वरूप—इस प्रकरणमें उन कर्मोंके रोकनेके उपाय और भेद प्रभेद बताये जा रहे हैं। कर्मोंके रुकनेका नाम संवर है। किसी भी प्रकारका बिगाड न हो सके—उसका नाम संवर है। वह संवर दो तरह का है—एक द्रव्यसंवर और दूसरा भावसंवर। उनमें से इस छन्दमें द्रव्य संवरका लक्षण बताया है। जीवमें दो प्रकारके बिगाड़ आ रहे हैं—एक तो अपने परिणाम अशुद्ध बनाना यह है भाव बिगाड़ और इस विकार भावका निमित्त पाकर जो कर्म पुद्गल का आना बनता है वह है द्रव्य बिगाड़। द्रव्यकर्मका आना द्रव्यास्रव है और अपने बुरे भावोंका बनना भावास्रव है। भावास्रवको रुकनेका नाम भावसंवर है और द्रव्यास्रवके रुकनेका नाम द्रव्यसंवर है। तपस्वी मुनि संतोंकी कर्मरूपी पुद्गलके ग्रहण करनेका निरोध हो जाय वह द्रव्यसंवर है।

कर्मोंका स्वरूप—भैया! कर्मोंके सम्बन्धमें बातें तो बहुत से लोग करते हैं, हर एक मनुष्यके जुदे-जुदे कर्म हैं। सब अपने कर्मोंसे दुःखी सुखी होते हैं, पर इन कर्मोंका स्वरूप क्या है, कर्मोंकी मुद्रा मूरत क्या है, इसके सम्बन्धमें किसीने भी निर्णय नहीं लिया। कर्म शब्दार्थसे तो किए जानेका नाम है। जो किया जाय उसका नाम कर्म है। जीवके द्वारा परिणाम किये जाते हैं तो शुभ और अशुभ परिणामोंका नाम कर्म है और इन परिणामोंका निमित्त पाकर जो बात बनती है बाहरमें अर्थात् अनेक कर्मपरमाणु कर्मरूप बन जाते हैं वे सब द्रव्यास्रव हैं। तो उन द्रव्यकर्मों का न आना, आस्रवका निरोध हो जाना, इसका नाम द्रव्यसंवर है। जैसे पूजा पाठमें कहते हैं ना लोग अष्टकर्म विध्नसनाय, वे ८ प्रकारके कर्म क्या हैं? द्रव्यकर्म, बहुत सूक्ष्म जो वज्रोंसे भी न रुकें, जो किसीसे भी न निवारे जायें, ऐसे बहुत सूक्ष्म पुद्गल हैं जो कर्मरूप बन जाते हैं। वे कर्मरूप न बन सकें, इसका नाम है द्रव्यसंवर। यह बात उन ऋषि संतोंने बतायी है जिन्होंने अपने आत्माके ध्यानसे पापकर्मोंका विघात किया है, ऐसे संतों ने द्रव्यसंवरका यह लक्षण कहा है।

भावसंवरके समय द्रव्यसंवरका स्वयंभावन—द्रव्य संवरपर हमारा कुछ वश नहीं है। हमारा वश तो अपने परिणामोंपर है। हम ही स्वच्छन्द होकर बुरे परिणाम करते हैं तो हम ही विवेक उत्पन्न करके शुद्धपरिणाम भी कर सकते हैं। शुद्ध परिणामोंके होने पर द्रव्यसंवर स्वयं हो जाता है। प्रथम तो कर्म बिगाडेसे बिगाडे भी नहीं जा सकते और फिर यह अमूर्त आत्मा उन कर्मोंका क्या करे? यह तो अपने परिणाम बनाता है और

पुद्गल कर्मोमें कर्मरूप बन जाना या कर्मरूप न बनना अथवा कर्मत्व मिट जाना—ये सब बातें होती रहती हैं। यह द्रव्यसवर स्वय होता है। अष्टकर्मोंका विध्वंस करना है तो अपने को करनेका यही काम है कि अपने भाव निर्मल रक्खें।

> या ससारनिमित्तस्य क्रियायाः विरतिः स्फुटम्।
> स भावसवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेय परमागमात् ॥१८०॥

कषायोंसे जीवकी बरबादी—इस श्लोकमें भावसंवरका लक्षण कहा जायेगा, संसारके कारणभूत हैं कर्मोंके ग्रहणकी क्रिया है योग और कर्मों की स्थिति व अनुभागका कारण है कषाय। उनका अभाव करनेका नाम है भावसवर। इस जीवको क्लेश देने वाली ४ कषायें हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायोंसे कर्मोकी स्थिति बनती है। कर्मोंके अनुभागमें तीव्रता आती है, कर्मोंका जमाव होता है। उन कषायोंका विनाश किये बिना हम शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। कषायोंको करके किसीने लाभ नहीं पाया। न लौकिक लाभ पाया और न आत्मलाभ पाया। चारों ओर दृष्टि पसार कर परख लो, क्रोध करके किसीने कुछ लौकिक समृद्धि पा ली हो सो भी नहीं देखा जाता है। क्रोधी पुरुषका आत्मा तो भीतर जलता ही रहता है। उसे चैन कहाँ है? आत्मलाभसे वह कोसों दूर है। क्रोध कषाय करके किसने लाभ पाया है?

क्रोधकषायमे हानिका उदाहरण—नेमिनाथ स्वामीके तीर्थके समयमें एक द्वीपायन मुनि हुए हैं जो सम्यग्दृष्टि थे, जिन्होंने तपस्या करके तैजस ऋद्धि प्राप्त की थी। इतने ऊँचे ज्ञानी साधु होकर भी जब द्वीपायन मुनि पर कुछ शराब पिये हुए लोगोंने पत्थर बरपाये, उनको गाली दी, तो बहुत बहुत सभाल करने पर भी वे अपने को सभाल न सके और उनके क्रोध उमड़ आया और वह क्रोध इतना तीव्र हुआ कि उनके बांये कंधेसे तैजस शरीर निकला। तैजस शरीर निकला यह क्रोधकी उनकी सबसे बड़ी स्थिति थी। उस ही समयमें उनका सम्यक्त्व खडित हुआ, मिथ्यादृष्टि हुए, और जो तैजस पुतला निकला, उसने फैलकर सारी नगरीको भस्म किया और द्वीपायनको भी भस्म किया। क्रोधमें और होता क्या है? क्रोधी जीव दूसरेका भी बिगाड़ कर बैठता है और खुदका भी बिगाड़ कर बैठता है। दोनोंका बिगाड़ होनेका इससे बढकर और क्या उदाहरण होगा?

मान, माया, लोभ कषायसे हानि—मान कषाय करके भी जीव क्या पाता है? घमडकी बात बगरानेसे लोगोंमें कुछ इज्जत नहीं मिलती। सब लोग मनमें उसे धिक्कारते हैं। यह कैसा मूर्ख है, कैसा घमडी है?

घमंडके सिवाय इसके कुछ काम ही नहीं है, इसे कुछ अपनी सुध नहीं है, सभ्यता नहीं है, नम्रता नहीं है। यह तो बड़ा उजड्ड है। उसके प्रति लोग इस तरहकी धारणा रखते हैं और ऐन समय पर कोई कह भी बैठते हैं जिससे घमंड करने वालेकी सारी पोजीशन नष्ट हो जाती है। इस लोकमें भी मानसे इस जीवने क्या पाया और मानवश परलोकका लाभ तो कुछ उठा ही न सकेगा। मान कषायसे भी जीवको न शान्ति मिलती है, न लौकिक समृद्धि मिलती है और न अध्यात्मिक लाभ है, न परलोकका लाभ है। कषायोंसे किसने क्या लाभ पाया है? घर-घरमें भी देख लो यही बात है। कषाय करके खुद दुःखी हुए और दूसरोंको दुःखी कर डाला। गांवमें, समाजमें भी यही बात है। कषाय करके खुद भी बरबाद होते हैं और दूसरोंको भी बरबाद करते हैं। मायाचार और लोभके परिणामसे तो यह जीव पाता ही क्या है? ज्वालामें जलना भुनना इस का बना रहता है।

कषायोंके अभावसे शान्तिलाभ व संवर—मोह व कषायोंको रोके, इसका नाम भावसंवर है और कषायोंके रुकनेसे द्रव्य संवर स्वयं अपने आप होता है। जो भावसंवरके उपायसे आत्मसमृद्धि पानेमें सफल हुए हैं ऐसे मुनीश्वर संतोंने कर्मोंसे बचनेका यह उपाय बताया है। कषायोंके दूर करनेसे जो आनन्द प्राप्त होता है उसको किसी दूसरेसे पूछनेकी क्या जरूरत है, खुद अपनी कषायें शान्त करके निर्णय प्राप्त करलें कि कषायें न करनेसे कितना लाभ है? व्यर्थकी गाली गलौज हो गयी, मारा पीटी हो गयी, लो कोई अंग टूट गया, पुलिस भी हैरान करे, मुकदमेबाजी हो गयी, तत्त्व क्या निकला? दो चार मिनटका क्रोध न शान्त कर सके, अपने को भी बहुत सता डाला और दूसरोंको भी बहु सता डाला, इसमें तत्त्व कुछ नहीं निकला। तो कषायोंसे इस जीवको शान्ति नहीं प्राप्त होती है। कषायें दूर करे तो इसे भावसंवर उत्पन्न होता है। ७ तत्त्वोंमें संवर तत्त्वकी बड़ी महिमा है। जीवका उद्धार संवरसे प्रारम्भ होता है और उद्धार होनेके पश्चात् भी संवर भाव बना रहता है।

कलुषतानिवृत्तिके लिये सत्संगति व स्वाध्याय करनेकी शिक्षा—शिक्षाकी बात इतनी तो ग्रहण कीजिये ही कि हम अज्ञानभाव दूर करें, मोह मिथ्यात्व मिटायें, कषायें शान्त करें तो हमारी यह सत्प्रवृत्ति, हमारा यह पुरुषार्थ हमारा कल्याण करेगा। हम अपने आपको न संभाल सकें और दूसरोंसे ही आशा बनाये रहें कि इनसे हमें सुख मिलेगा अथवा दूसरों पर कुदृष्टि बनाये रहें कि ये मेरे बाधक हैं, इनको तो मजा देना चाहिये, इनका विघात करना चाहिए, ऐसी बाह्यदृष्टि बनाये रहें तो इससे अपना

कोई लाभ नहीं है। ऐसा जानकर मोहको हटानेका और कषायोंके दूर करनेका अपना यत्न बनाना चाहिये। यह यत्न मिलेगा स्वाध्यायसे और सत्सगतिसे। ये दोनों बातें एक दूसरे को प्रेरणा देने वाली है। स्वाध्याय से भावशुद्धि होती है। ज्ञानार्जनसे निर्मलता बढ़ती है और सत्संगके लिए मन बढ़ता है असत्सगसे हट जाता है, और सत्सग करनेसे जो कुछ कमी रहती है उसकी दृष्टि आती है, उसे दूर करनेका भाव जगता है, इस कारण सत्संगति और स्वाध्याय—इन दो बातोंमें विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते।
यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे ॥१८१॥

सयममे पापवाणोंका अप्रवेश—सम्यक्त्व जगे, महाव्रतका धारण हो, समिति, गुप्ति, चारित्र, तपश्चरण इनकी ओर दृष्टि लगे तो वह पुरुष कर्मों से अजेय हो जाता है। जैसे कोई पुरुष युद्धमें लड़ने जाय तो यदि वह अपने शरीरको लोहेंके कवचोंसे जो युद्धके साज हैं उनसे सजकर युद्धमें जाता है तो शत्रुके बाणोंसे यह भिदता नहीं है, इसी तरहसे जिस आत्मा ने अपने आत्माको व्रतोंसे, चारित्रसे, तपश्चरणसे मजबूत बनाया है उसे फिर असयमके बाण, पापोंके बाण नहीं भिदते है। सब बातें केवल एक चिन्तनसे होती हैं। यदि अपने चिन्तनमे शुद्ध दृष्टि आयी है, आत्म-स्वभावकी ओर झुकाव बनता है तो वह परिस्थिति इतनी सुदृढ़ होती है कि वहां खोटा भाव विषय कषायोके परिणाम फटक नहीं सकते। और इसहीमें भला है। पापरूप परिणाम करके इस जीवको पराधीनता, पाप का बंध, घबड़ाहट क्षोभ कायरता—ये सब खोटी बातें उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु व्रतरूप प्रवृत्ति होनेसे, ज्ञानदृष्टि जगनेसे आत्मामें एक बड़ा बल उत्पन्न होता है और उसे पाप छू नहीं सकते।

विषय कषायमें अलाभका चिन्तन—अहो, विषयोंके भोगमें कषायोंके करनेमें जीवको मिल क्या जाता है? खूब अच्छी तरहसे निर्णय करलो, अब तक क्या मिला, इससे ही समझ बना लो। इतनी उम्र हो गयी, नाना-प्रकारके पंचेन्द्रियके विषयोंमे लगे रहे, आज लगा क्या हाथ? हाथ लगने की बात तो दूर रहो, अपना खोया ही है सब कुछ। पुण्य खोया, आत्म-बल खोया, मनोबल खोया, सब कुछ खोया है, पाया कुछ नहीं है। भले ही यह मोही जीव कल्पनामें समझे कि हमने इतना परिवार बनाया, मकान बनवाया, हमने बहुत-बहुत काम किये, किन्तु पाया कुछ नहीं। आप जो एक शरीरमें बैठे हुए हैं उस शरीरमें विराजमान् आत्माकी बात पूछो कि हे आत्मन्! तुझे लाभ क्या मिला? उत्तर मिलेगा, कुछ नहीं।

बल्कि यह और भी कायर बना, अधिक हठने आ गयी, अब यह और अधिक पराधीन हो गया। यों बिगाड़ ही बहुत मिला। यह बिगाड़ किसने किया ? पाप परिणामोंने, असयम भावोंने। यदि इन विडम्बनाओं से बचना है तो अपनी शक्ति माफिक सयम धारण करो।

असयमवृत्तिसे पीछे पछतावा—भैया ! मनुष्य एक बारके खानेसे भी जीवित रहते हैं लेकिन ऐसा असन्तोष रखते हैं कि बार-बार बिना खाये काम तो नहीं चलता। ठीक है। कुछ पुण्यका उदय है, भोगसाधन मिले हैं, तो चाहे जितने बार खायें, लेकिन जब कोई दरिद्रताकी स्थिति आ जाय या अन्य पशु नारकादिक कुयोनियोंमें जन्म हो जाय तो क्या वहां रात दिन कई बार खाये बिना गुजारा नहीं चलता ? अरे कुछ उत्साह जगाये, कुछ सयमके भाव बनायें, अपने पद माफिक संयमकी प्रवृत्ति रक्खें। यदि कुछ भी सयम न रक्खा, असयमभावमें ही पड़ते गये तो जीवन तो जा ही रहा है। जब मरणकाल आवेगा तब इसको ख्याल होगा, ओह ऐसा दुर्लभ नर जीवन इसको इस तरह असयममें, पापोंमें बिता डाला। बड़ा खेद होगा। जैसे बड़ी मुश्किलसे पायी हुई निधि हाथसे छूट कर समुद्रमें गिर जाय तो वह कितना विषाद मानता है, ऐसे ही समझो कि अनेक योनियोंमें भ्रमण करते-करते बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्य देह मिला है और इसे इन्द्रियके विषयोंमें ही खो दिया तो कुछ यदि विवेक रहेगा तो अन्तमें यह बहुत पछतायेगा। देखो शरीर तो गया ही, शरीर तो वृद्धा ही हुआ, हम यदि भोगोंमें न रमते, असयममें न रहते, कुछ सयम करते, तपश्चरण करते, आध्यात्मिक साहस बनाते तो हमारा बिगाड़ क्या था ?

सयमधारणकी प्रेरणा—शरीरका स्वभाव तो मिटनेका ही है, बुरे परिणामोंमें रहें तो मिटेगा, भले परिणामोंमें रहें तो मिटेगा। बल्कि शरीरका मिट जाना तो लाभकारी चीज है। ऐसा मिटे यह शरीर कि फिर कभी शरीर न मिले तो यह अपने लाभ वाली बात है। यदि शरीर रहित अवस्था पानी है तो संयम धारण करे। भक्तिमें कहा गया है कि सयमके बिना एक घड़ी भी न व्यतीत हो। एक असयमके स्वभाव वाली प्रवृत्ति इस जीवको दुर्गति देने वाली होती है। जहां मनमें भाव ही न आये कि मुझे कल्याण करना है। केवल पशु पक्षियोंकी या मूढ़ोंकी, गँवारोंकी प्रवृत्ति की तरह अपनी प्रवृत्ति बनायी तो उसमें अच्छा फल न होगा। केवल खानेका ही सयम नहीं, वचनोंका सयम हो, ब्रह्मचर्यका संयम हो, जैसी चाहे रागभरी मुद्रा देखनेका परिहार हो, राग रागनियोंके सुनने पर भी सयम हो, सात्विक रहन सहन हो, मनकी भी उड़ानें खत्म कर दी

जायें, यों पाच इन्द्रिया और छठा मन इनमे अपनी शक्ति माफिक सयम बताये। असंयममें इस जीवको कुछ भी लाभकी बात नहीं है।

ज्ञानी वीरका सयम कवच—जैसे कोई पुरुष युद्धमें, सकटमे लोहेके कवच आदिकको अपने शरीरमे सजाकर युद्धमें जाता है तो वह बाणोंसे नहीं भिदता, इसी तरह ब्रह्मरूप परिणामसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रके रत्नत्रयके दृढ़ कवचसे जिसने अपने आपको सजाया है ऐसा सयमी पुरुष भी असंयमके बाणोंसे नहीं भिदता है अर्थात् अशान्ति उसमें नहीं आती है। जिसे शान्ति चाहिए हो वह अच्छा आचरण करे, ज्ञान बढाये और सयम तपश्चरण व्रतरूप अपनी प्रवृत्ति रक्खे, यों कषायें दूर होंगी और अपना भला होगा।

जायते यस्य यः साध्यं स तेनैव निरुध्यते।
अप्रमत्तै मुमुक्षुभिः संवरार्थं महर्षिभिः ॥१८२॥

आस्रवका प्रतिपक्षी भाव—जिसका जो साध्य है अर्थात् जिस प्रकार से जो बात बनती है वह उस ही तरहसे रुकती है अर्थात् उसके प्रतिपक्षी उपायोंसे वह रुक जाती है, इसी प्रकार अप्रमत्त सावधान उद्यमी साधुजनों को सवरके लिए आस्रवसे उलटा उपाय करना चाहिए अर्थात् कर्मोंका आना जैसे क्रोधसे हो रहा है तो कर्मोंका आना रोकना है तो क्रोधसे उलटा भाव बना लीजिए, कर्म रुक जायेंगे। जिस कारणसे आस्रव है उस का विरोधी भाव लाया जाय तो आस्रवका अभाव हो जायेगा।

जीवका दुःखकारी व हितकारी भाव—जीवको दुःखकारी आस्रवभाव ही है, जीवका हितकारी भाव तो स्थायीभाव है। जो भाव सदा रह सके उस भावसे जीवको हित है। जो सदा रह सकता है वह भाव शान्त है, धीर है, उदार है, सहज है, स्वाधीन है। जो भाव स्थिर न रह सके वह भाव क्षोभरूप है, पराधीन है, उससे कोई हित नहीं हो सकता। जैसे मान लो पुण्यके ठाठ है, उदय अच्छा है, अनेक साधन ठीक चल रहे हैं, ठीक है चल तो रहे हैं और उन साधनोंमें मौज भी मानी जा रही है और मौज भी ठीक चल रही है लेकिन ये सब स्थायी चीजें तो नहीं हैं। बड़े-बड़े पुण्यवान पुरुष इसी बलपर तो विरक्त हुए है, हालाकि मिला है सब कुछ, पर स्थायी नहीं है तो उससे पूरा न पड़ेगा जीवका। जीव एक उतना ही तो नहीं है जितना इस भवमें है, इस क्षेत्रमें है, यह तो अमर है, सदा काल रहेगा। रूपक बदलता रहता है इस कारण यह बहुत जरूरी है कि हम धर्ममें लगें, आस्रवका निरोध करें, शान्तस्वभावका आदर करें, कषायोंसे दूर हटें। ये सब बहुत जरूरी चीजें हैं। तो सवरके लिए महर्षि जनोंको आस्रवके निरोधके लिए उससे विरुद्ध परिणाम अर्थात् आत्माके

अनुकूल परिणाम करना जरूरी है। वह प्रतिपक्षी परिणाम क्या है? उसका वर्णन आगेके श्लोकमें कर रहे हैं।

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः।
मायायाः सङ्गसन्न्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥१८३॥

क्रोधके प्रतिपक्षी क्षमाभावसे क्रोधका विघात—क्रोध कषायका प्रतिपक्षी भाव तो क्षमा है। क्रोध और क्षमाका परस्परमें वैर है, विरोधीभाव है एक दूसरेके। जहां क्रोध है वहां क्षमा नहीं, जहां क्षमा है वहां क्रोध नहीं। क्रोधको जीतना हो तो क्षमासे जीतिये। क्रोध करनेके कारण जो कर्मोंका आस्रव होता है उस आस्रवको रोकना है तो क्षमाभाव लावें वह आस्रव रुक जायेगा। क्षमाका स्वभाव तो सदा रहना चाहिए। किसी प्रसंगमें किसी अन्यायपर क्रोध भी आ जाय तो भी क्षमाका स्वभाव तो रहना ही चाहिए क्रोध करने पर भी, क्योंकि यदि अन्तरङ्गमें क्षमाकी प्रकृति नहीं है और क्रोध कर रहे हैं और क्रोधकी ही आदत है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट होगी और उससे सही काम नहीं बन सकता। कभी क्रोध भी आ जाय तो भी क्षमा की प्रकृति न मिटनी चाहिए। क्षमासे कर्मोंका आस्रव रुकता है।

क्षमा गुणकी प्रधानता—सब गुणोंमें क्षमाकी बड़ी प्रधानता है। किसी पुरुषमें अनेक गुण हों और क्षमा गुण न हो, क्रोधकी ही आदत सदा बनी रहती हो तो क्रोधको ज्वाला बताया है और इस ज्वालामें सब गुण भस्म हो जाते हैं। आप किसीका कितना ही उपकार कर रहे हों, बहुत मदद की है, किसी समय विकट क्रोध कर डालें उस पर, तो उसमें फिर कृतज्ञता नहीं रह पाती। किए हुए समस्त काम उसने खराब कर लिये। क्षमासे चित्त भी शान्त रहता है आत्मा भी शान्त रहता है और शान्तिके लिए, धर्मलाभके लिए जो कुछ कर्तव्य है, वह सब भी सूक्ष्मतासे होता रहता है। तो क्षमा क्रोधका वैरी है। इस क्षमाके द्वारा क्रोधजनित आस्रवको रोकना चाहिए।

मार्दवभावसे मानकषायका विघात—मान कषायका वैरी है नम्रता, कोमलभाव। जहाँ मान है वहाँ नम्रता नहीं रह सकती। जहाँ नम्रता है वहाँ मान नहीं रहता। मान कषायकी उपमा कठोरतासे दी है। किसीका मान पत्थर जैसा है, किसीका मान हड्डी जैसा है, किसीका मान काठ जैसा है और किसीका मान बेंत जैसा है। चार डिग्रियां मान कषायकी कही हैं। तो यह नम्रताकी ख्यातिके लिए दृष्टान्त है। बेंत जैसे निमावो निम जाता है। बेंतसे अधिक कठोर है काठ और काठसे अधिक कठोर है हड्डी और सबसे अधिक कठोर है पत्थर लोहा भी नम जायेगा। लोहे पर वजन पड़े तो नम जायेगा और पत्थर पर वजन पड़े तो नमनेका काम

नहीं है, टूट जायेगा। तो ऐसे ही मान भी किसीका बहुत कठोर, किसीका कम कठोर है, मान कषायमें कठोरता आ जाती है। कड़ा चित्त हो जाय, किसीको कुछ न समझे, अपना ही मान रखने का उपाय स्वप्न बना रहे, उस मान कषायसे जो कर्मोंका आस्रव होता है उस आस्रवको रोकना है तो नम्रताका परिणाम करना चाहिये।

सरलतासे मायाकषायका विघात—माया कषायका शत्रु है सरलता अर्थात् जहां सरलता है वहा मायाचार नहीं, जहां मायाचार है वहाँ सरलता नहीं। बच्चोंमें सरलता बहुत नजर आती है। उनमें मायाचार नहीं। किसी बातको मना कर दो, अमुक बात न कहना तो कहो वह यह कह बैठे, जो आपने जो बात कही कि वह मैं न कहूंगा। आप ऐसा कहते थे ना, मैं नहीं कहूगा, आपने रोक दिया, तो रुका कहा, कह तो डाला। तो वहा सरलता अधिक है और सरलता होने के कारण ही बच्चे प्रसन्न रहा करते हैं। किसी बडे को बच्चोसे ईर्ष्या हो सकती है कि हम प्रसन्न नहीं रहते। बच्चे बडे खुश रहते, इन्हें न कोई चिन्ता है, न बोझ है, खेलते रहते। खुश रहते। प्रसन्न रहते हम इतना मरे जा रहे हैं। तो बच्चोंमे प्रसन्नताका जो गुण है वह गुण हममें नहीं है। उनमें सरलता है क्षमा भी है। अभी थोड़ा लड गए किसीसे और एक ही मिनट बाद भूल गए तो ये कषाय जहा उग्र हो जाती हैं वहा प्रसन्नता नहीं रह सकती। मायाचारसे उत्पन्न होने वाले आस्रवको रोकना है तो सरलताकी वृत्ति कीजिए। सरल परिणामोंसे यह आस्रव रुक जाता है।

उदारतासे लोभकषायका विघात—लोभ कषायका प्रतिपक्षी हैं परिग्रह के त्याग करनेका भाव, उदारता। जहां उदारता है वहा लोभ नहीं है। लोभ कषायके करनेसे जो कर्मोंका बध होता है उस बधको दूर करना है तो उदारता आनी चाहिए, पवित्र परिणाम यह भाव रहना चाहिए कि मेरे आत्मासे ये सभी पदार्थ भिन्न हैं। अन्य समागमोंसे जुदा रहनेका स्वरूप ज्ञानमें बसा रहना चाहिए तब लोभ दूर होता है।

क्षमादिक गुणोसे सर्वत्र लाभ—क्षमा, मार्दव, आर्जव व उदारता, इन चार प्रकारके धर्मरूप परिणामोंसे इस जीवको पारमार्थिक लाभ तो है ही, पर आर्थिक लाभ भी है। कोई व्यापारी क्रोधी बना रहकर धनार्जनमें सफल नहीं हो सकता। उसके पास जानेमें ग्राहकको भय लगता है, घृणा हो जाती है। उसके पास कोई नहीं बैठना चाहता। जो घमडी व्यापारी है उससे भी लोग दूर रहते हैं। मायाचार वाले से भी लोग दूर रहा करते है। जिसके विषयमें यह पता पड़ जाय कि यह बड़ा मायावी पुरुष है दगाबाज है, छली है, कपटी है तो फिर उसका व्यापार नहीं चल सकता।

इसी प्रकार जो लोभी है उसका भी व्यापार नहीं चल सकता, क्योंकि लोभकषायके रंगमें रंगा होनेसे उसके वचनोंमें, उसकी कृतिमें, उसके व्यवहारमें फर्क आ जाता है। किसीका जरा भी सत्कार न कर सका, कुछ भी दूसरोंके सत्कारमें व्यय न कर सका तो उसका काम आगे कहां चलेगा? तो कषायोंके कम करनेसे आर्थिक लाभ भी है और पारलौकिक लाभ भी है। इन चार प्रकारके धर्मोंसे अपने आपके आत्माको पवित्र करें और कर्मोंके आस्रवको रोकें।

धर्मकी रक्षकता—आजके समयमें लोग धर्मकी बातको ढकोसला मानते हैं और यह बात सच भी है। धर्मका असली रूप, असली जड़ समझमें न आये तो धर्मके नाम पर जो कुछ भी किया जाय वह ढकोसला है और लोगोंकी समझमें यह आयेगा ही कि धर्म तो एक ढकोसला है, कोई तत्त्वकी चीज नहीं है, किन्तु धर्म क्या है, स्वरूप क्या है और वास्तविक मायनेमें धर्मका परिणाम आये तो उसका क्या प्रभाव पड़ता है? इस बात का परिचय हो जाय तो वह धर्मका आदर किये बिना रह नहीं सकता। धर्ममें न कोई मजहब है, धर्ममें न कोई किसी प्रकारका भेद भाव है। धर्म तो धर्म है। आत्माका स्वभाव प्रकट हो उसका नाम धर्म है। क्षमा, नम्रता, सरलता, उदारता ये परिणाम हों तो बस आत्माको भी शान्ति मिलती है और भविष्य भी उज्ज्वल रहता है। धर्म ढकोसला नहीं है किन्तु आत्माका सच्चा रक्षक है।

स्थायीभावके आदरका अनुरोध--भैया! विषय कषाय सम्बन्धी अस्थायी भावोंसे जीवका पूरा न पडेगा। इन अस्थायी समागमोंसे जीव का कुछ हित न होगा। बहुत धन है तो भी अनेकोंके देखनेमें आया है कि कुछ ही दिन बाद उनकी स्थिति अत्यन्त नाजुक हो जाती है। जिनकी स्थिति अत्यन्त नाजुक है कुछ दिन बाद वे बडे भरे पूरे नजर आते हैं। ऐसे ही शरीरकी बात देखो। विश्वास पर तो सब कुछ कह सकते हैं मगर पक्की बात कुछ भी नहीं कह सकते। कोई पुरुष शरीरसे बड़ा चंगा है। कुछ ही समय बाद क्या स्थिति गुजर जाय इसे क्या पता? कहो रुग्ण हो जाय, कहो रंग बदल जाय। तो जो चीज मायारूप है, भिन्न है, पर है वह कैसे ही मिल जाय, पर वह आत्माको हितरूप नहीं है। आत्माका विवेक आत्माको हितरूप है। अस्थायी और स्थायी इसमें विवेक करके स्वाधीन, अभिन्न निज स्थायी भावका आदर करो, अवश्य कल्याण होगा।

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम्।
मिथ्यात्व दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिन ॥१८४॥

रागद्वेषके अभावसे सिद्धि—जो योगी ध्यानी मुनीश्वर हैं वे सदैव समतापरिणामसे निर्ममत्व भावसे रागद्वेषका निराकरण करते हैं। जैसे कुछ लोग कहते है कि इस इन्सानके दोनों कंधोंपर दो दैत्य रहते हैं। वे दो दैत्य क्या हैं? राग और द्वेष। जो इस जीवके कंधे पर सवार बने रहा करते हैं। इन राग और द्वेषोंसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जो इन राग-द्वेषों पर विजय पाये वही तो सत्पुरुष है। जैसे कहते है कि हम लोग दुकान करें, कोई चीज बनाये, ऐसे ही यदि ईश्वर भी कोई चीज बनाता है, कुछ व्यवस्था करता है, लोगोंके सुख दु:खका हिसाब रखता है, रोकड़-बही बनाये रहता है तो हममें और ईश्वरमें फर्क क्या रहा? इतना ही अन्तर समझो कि एक छोटा दुकानदार और एक बड़ा दुकानदार, क्या अन्तर रहा? ऐसे ही समझिये कि रागद्वेष जितने लोग भी करते हैं उन रागियोंमें द्वेषियोंमें परस्पर क्या अन्तर रहा?

रागद्वेषकी मन्दतासे महापुरुषपना—महापुरुषता किसका नाम है? महापुरुष बनता है रागद्वेषपर विजय पानेसे। जितना निकट यह अपने आत्माकी ओर आये, रागद्वेष दूर हों, समतापरिणाम जगे, निर्मोह विकास हो, बस उसीका नाम महापुरुष है। हम ही जैसा रागद्वेष कोई करता रहे, कोई और राजपाट मिल गया या कुछ विशेष समृद्धि मिल गयी, उसके कारण यदि वह महापुरुष कहलाये इसके लिए यह उपमा रखिये। जैसे कर्ता हर्ता ईश्वरमें और कर्ता हर्ता मनुष्योंमें कुछ अन्तर नहीं रहा। ऐसे ही रागी द्वेषी छोटे पुरुषमें और रागीद्वेषी समृद्धिशाली पुरुषमें अन्तर कुछ नहीं रहा। सत्पुरुषता समतापरिणामसे और निर्मोह भावसे प्रकट होती है, तब राग द्वेषपर विजय करें। इसके उपाय ये दो हैं—समता और निर्ममता। किसी वस्तुमें मोह न होगा तो रागद्वेष न किया जा सकेगा।

मोहकी कलुषतासे राग द्वेषका जमाव—रागद्वेषकी जड़ मोह परिणाम है। उससे ही समता बिगड़ती है। कैसा अज्ञान है कि जगतके सभी जीव तो भिन्न हैं। कोई घरमें उत्पन्न हुआ हो तो, या अन्य घरमें हो तो, सभी जीव तो भिन्न हैं, उन भिन्न जीवोंमें कैसी छटनी बना ली है कि ये तो मेरे खास हैं और सब गैर हैं। हाँ, लोकव्यवस्थाके लिए गृहस्थीके संचालनके लिए जो माना जाता है यह बात और है किन्तु कोई ऐसा ही ज्ञान बनाये हो कि वाह कैसे नहीं हैं ये मेरे, मेरे ही हैं, किसी अन्यके नहीं हैं और सब गैर ही हैं—ऐसा मूलमें अज्ञान बसा हो तो उसके बड़ी कठिन विपदा है। विपदाका सुधारना ही वास्तविक सम्पदा है और भावोंका बिगड़ना यह वास्तविक विपदा है। समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें बताया है कि यदि पापोंका निरोध हो गया तो अन्य सम्पदा

से क्या प्रयोजन ? और यदि पापोंका निरोध नहीं हुआ तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन ? पाप रुक गये तो यही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य सम्पदासे क्या मतलब ?

पौद्‌गलिक ढेरकी चाहमे रीतापन—अच्छा बताओ तुम्हें सम्पदा चाहिए या शान्ति ? यह पौद्‌गलिक ढेर चाहिए अथवा शान्ति ? यदि पौद्‌गलिक ढेर चाहिए तो पौद्‌गलिक ढेरमे तो बसे ही हुए हैं, फिर क्यो इनमे आनन्द नहीं पा रहे हैं ? एक तो यह शरीरका ढेर लगा है, इसके बाद जो चारों तरफ पौद्‌गलिक ढेर पडा है, जिसका जो वैभव है वह वैभव भी न आत्मामें प्रवेश करता है और न वह सारा उपभोगमें आता है, काममें नहीं आता, आत्मामें नहीं आता। फिर भी मान लेते हैं कि यह मेरा है। तो मानने से ही तो मेरा बना कि मेरा हो ही गया। जिसके पास जो विभूति है वह विभूति उसकी वास्तविक बन गयी या माननेमे बन गयी ? माननेमें बनी है तो जब माननेसे ही बनती है तो जितने ये ढेर पडे हैं इन सबको मान लो कि मेरे हैं। जैसे घरमें कोई बूढा होता है और उसके बच्चे लखपति हैं मानो, तो बूढेको कुछ मिलता उसमें से नहीं है क्योंकि सब लड़के जानते हैं कि बूढ़ा है, किसी काम नहीं आता है। इतना है कि इसे रोटिया मिल जायें। लेकिन वह बूढ़ा उस सारी विभूतिको अपनी मान कर खुश बना रहता है। जैसे लोग कहते हैं कि यह घर तो हमारा है पर हाथ नहीं लगाना, यह स्थिति होती है बूढ़ोंकी। वह मानता है चित्तमें कि सब मेरा है, पर हाथ कहीं लगा नहीं सकता। तो माननेका ही तो रहा, तो सारे पुद्‌गलको मानलो कि मेरा है।

शान्तिका साधन—अच्छा फिर बताओ—तुम्हें शान्ति चाहिए या पौद्‌गलिक ढेर। शान्ति चाहिए तो शान्तिके लिए कुछ आध्यात्मिक खोज भी करें, समता जगे, निर्ममता हो, मिथ्यात्वभाव दूर हो, अपनी ओर झुकाव हो तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। शान्तिके लिये शान्तिके बाधक कषायोंके प्रतिपक्षी भावसे भावकर्म व द्रव्यकर्मोका आस्रव दूर करना कर्तव्य है। हे हितार्थीजनो ! चाह शान्तिकी करो, पौद्‌गलिक ढेरोंकी चाह न करो। इस श्लोकमे यह शिक्षा दी है कि सम्यक्त्वके योगसे तो मिथ्यात्वका निराकरण होता है और फिर मिथ्यात्वके निराकरणके प्रसाद से सुगम उपलब्ध समता और निर्ममतासे राग और द्वेषका निराकरण होता है। मोह, राग और द्वेषके निराकरणसे ही शान्तिका विकास होता है। अत' हे भव्यजनो ! निज शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिसहित उपेक्षा-सयमरूप सवर भावसे ससारसकटोंका, विषयकषायोंका अभाव करो और सहज आनन्दका अनुभव करो।

अविद्याप्रसरोद्भूत तमस्तत्त्वावरोधकम् ।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्वाढ स्फोटयन्त्यात्मदर्शिनः ॥१८५॥

अज्ञानतमका निरसन—जिन्होंने आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन किया है अर्थात् यह आत्मा अपने आप अपने सत्त्वके कारण कैसा स्वभावमय है उस रूपमे जिन्होंने अनुभव किया है ऐसे मुनिजन अज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके द्वारा अविद्याके प्रसादसे उत्पन्न हुए अंधकारको दूर कर देते हैं। तत्त्वज्ञानका आवरण करने वाला है अज्ञान।

अज्ञानान्धकारकी गहनता—अज्ञान एक ऐसा अंधेरा है कि जिस अंधेरेमे रहने वाले पुरुषको अपना अंधकार नहीं मालूम होता और उस अंधकारमें ही काल्पनिक प्रकाश मालूम करता रहता है। जैसे सीधा कहीं जल भरा हुआ है तो उससे नुकसान नहीं होनेका। अच्छी तरहसे मनुष्य या तो उससे बचकर निकल जायेंगे या धीरे-धीरे अवगाह करके निकल जायेंगे, लेकिन कोई पाषाण सगमरमर या अन्य कुछ इस ढगका हो कि वह जलरूप मालूम दे तो वह विडम्बना करता है। पद्मपुराणमें राम रावणके युद्धके समयकी एक यह भी घटना बतायी है कि रावण जब शान्तिनाथके मन्दिरमे विद्या सिद्ध कर रहा था तो उसकी सिद्धिमें बाधा डालने वाले अनेक लोग उस मंदिरमें गए तो वह मदिर बहुत-बहुत कलावोंसे निर्मित था। है तो जमीन और दिख रहा है पानी। बीचमें लगा है खम्भा और वह दृष्टिमे आता नहीं। आसमानसा लग रहा, तो कुछ लोग सीधे चले गए तो खम्भेमे मस्तक टकरा गया। कुछ लोग जमीन में पानीकी तरह उतरने लगे तो वे गिर पडे, चोट आ गयी। तो एक यह अज्ञानका अंधेरा भी ऐसा है कि यह काल्पनिक उजाला समझकर चल तो रहा है अंधेरेमें और मौज मानता है, उसके बहुत गहरी चोट लगती है।

अज्ञानान्धकारको दूर करनेका उपाय—इस अज्ञान अंधकारको वह ही पुरुष दूर कर सकता है जिसे भीतरसे ज्ञानकी प्रेरणा मिली है। हर एक बात दो दो हुआ करती है या इस पार या उस पार। नदीके दो तट हैं—इस पार या उस पार। ऐसे ही यहा दो तट हैं—एक ओर ज्ञान, एक ओर अज्ञान। इन दोनों तटों पर ठहर जाना सुगम है। कोई ज्ञानसे अपना सम्बन्ध जोडता है और कोई अज्ञानसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है। बस अज्ञानमयी कल्पनाएँ ये ही तत्त्वज्ञानको रोकती हैं। उस अंधकारको आत्मदर्शी पुरुष ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंको नष्ट कर डालते हैं। बैठे ही बैठे उपयोग कुछ झुका अपनी ओर लो ज्ञानप्रकाशका अनुभव हुआ। राग द्वेष मोहसे आविष्ट होकर जो बाहर की ओर भावा कि लो अब क्षोभ होने लगा। केवल एक अपने आपके ही भीतर मुड़ने की, बाहर झुकने की

ऐसी कला है कि जो कोई परिश्रमसाध्य नहीं। कोई भीतरको मोड़ लेता, कोई बाहरको झांक लेता। दोनों काम सुगम है, दोनोंमें श्रम कुछ नहीं है, पर जिनका होनहार अच्छा है वे सीधा काम करते हैं और जिनको संसार मे अभी रुलना है उनका बाहरमें झुकाव रहता है।

संवरका मूल उपाय आत्मज्ञान— सत्य समझें—जब तक अपना ज्ञान अपने स्वरूपकी ओर झुककर एक विशुद्ध आनन्दका अनुभव न कर ले तब तक जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? यहाँ जगत्के मायावी पुरुषोंमें कुछ अपना नाम रखा लिया तो वे मायावी क्षणिक हैं, यह नाम भी क्षणिक है, ये शकलें भी क्षणिक है, सब स्वप्नकी तरह है। सारभूत बात तो इतनी है कि यह आत्मा अपने आत्माके स्वरूपकी सुध करले। आत्मदर्शी पुरुष अपनी सुध करनेके कारण इन समस्त अज्ञानके बखेड़ों को दूर कर देता है। संवरका यह प्रकरण है और संवर भाव तब तक प्रकट नहीं होता जब तक अपने आपका सही परिचय न मिल जाय। कर्मोंके रुकनेका नाम संवर है। अपनी सुध भूलनेसे कर्म आते हैं और अपनी सुध करनेसे कर्म अपने आप रुक जाते हैं। कर्तव्य यह है कि हम कुछ अपने भीतर चिन्तन करें, कुछ अनुभव करें। अपनी ओरके भीतरका झुकाव कल्याणका कारण बनता है।

असंयमगरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभि ।
निराकरोति निःशङ्कः संयमी संवरोद्यतः ॥१८६॥

असंयमविषका दूरीकरण—जो संवर करनेमें तत्पर पुरुष हैं, संयमी मुनि हैं वे निःशंक होकर असंयमरूपी विषके उद्गारको संयमरूपी अमृतमय जलसे धो डालते हैं। जैसे किसीको किसी कीट पतंगेका विष चढ़ जाय तो उस विषको दूर करनेका एक तो उपाय है निःशंक होकर कोई मंत्रवादीके द्वारा प्रयोग होना और एक औषधि सेवनका उपाय है। जो पुरुष निःशंक है, शंकारहित है वह औषधि सेवन करके अपने इस विषको दूर कर लेता है।

समृद्धिमें ज्ञानका सहयोग—भैया !, कुछ स्वास्थ्यके बननेमें ज्ञान भी मदद करता है। केवल भोजन ही भोजन स्वास्थ्यका कारण नहीं है। अपना ज्ञान होना, दिलकी स्वच्छता रहना, चित्तको सही बनाते रहना ये भी शारीरिक स्वास्थ्यके कारण होते हैं। कोई पुरुष कायर बुद्धिका हो, तृष्णामें अति आसक्त हो तो वह इसी कारण परेशानदिल बना रहता है। केवल एक अपने स्वार्थकी ही बात चित्तमें बनी रहती है, इसी कारण उसका दिल प्रसन्न भी नहीं रहता। वह अपनेको बड़ा बोझ वाला महसूस करता रहता है। ऐसे पुरुष प्रायः मलिन और अस्वस्थ रहा करते हैं।

तो लौकिक समृद्धियोंमें केवल एक परिग्रहका जुट जाना ही कारण नहीं है किन्तु अपने ज्ञानका सही होना, विवेक बना रहना, बुद्धिका गतिमान होना यह भी लौकिक सुखका कारण है।

ज्ञानी संतोंका तपश्चरण—ये महाव्रती मुनि संयमरूपी अमृतमयी जलसे उस असंयमके विषको दूर कर डालते हैं। असंयममें क्लेश है और संयममें आनन्द है, लेकिन जब मोहका तीव्र उदय रहता है तो इस जीव को संयममें आनन्द कम मालूम रहता है और असंयममें आनन्द मालूम होता है। संयम वास्तविक यह है जहां यह ज्ञान अपने आत्माके स्वरूपमें समाये, स्वरूपको जाने, वही वास्तविक संयम है और इस संयमके लिए ही व्यवहारमें अन्य संयम किए जाते हैं। केवल जो उपवास या धूपमें ठंडमें बैठने या अन्य प्रकारके कायक्लेश सहनेमें संयम मानते हैं उनको संयममें आनन्द नहीं आता है। वहाँ भी क्षोभ और खेद बना रहता है और जो इस आध्यात्मिक संयमका आदर करते हैं, आत्माको जानने का जिनका लक्ष्य है, वे पुरुष बाहरी संयमके पालन करने पर भी चित्तमें खेद नहीं रखते हैं।

कर्मनिर्दहनका उपाय विशुद्ध आनन्द—कर्मोंको जलानेकी शक्ति आनन्द में है कष्टमें नहीं है। कर्म कष्टसे नहीं खिरा करते हैं, हैं, कर्म कष्टसे नहीं रुका करते। कर्मोंके रुकनेका भी कारण शुद्ध आनन्दका अनुभव है और कर्मोंके दूर होनेका भी कारण शुद्ध आनन्दका अनुभव है और कर्मोंके दूर होनेका भी कारण शुद्ध आनन्दका अनुभव है। आत्माके अनुभवमें जो एक अनुपम आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द के कारणसे कर्म रुकते हैं और दूर होते हैं। ऐसा आनन्द ज्ञानी तपस्वीकी तपस्याके समय बना रहता है। अन्य लोग तो यों निरखते हैं कि देखो हाय कैसा धूपमें, ठंडमें ये साधु महाराज विराजे हैं? दो दिन हो गए, चार दिन हो गए ये आहारको नहीं उठे हैं, कितना कष्ट सह रहे हैं किन्तु यदि वह ज्ञानी साधु है तो वह कष्टका अनुभव नहीं कर रहा है किन्तु जैसे एक व्यापारीको आर्थिक लाभ होते दिख रहा है तो वह उसकी बढ़वारीमें अपना चित्त बनाये रहता है, इतना हो गया, इतना और होने वाला है इतना और हो जायेगा, ऐसे ही ये ज्ञानी साधु संत आत्माके अनुभवके प्रति ऐसे तृष्णालु बन गए हैं—यह हुआ अनुभव आत्माका, अब यह आत्मानुभव बना रहेगा। इसे चिरकाल तक बनाये रहें, इस ओर ही उनका ध्यान रहता है। उन्हें क्लेश कहां है? वे तो आनन्दकी होड़ लगाये हुए हैं। मात्र लोगोंको दिख रहा है कि ये उपवास गर्मी सर्दी आदिकके क्लेश सह रहे हैं। क्लेश सहनेसे कर्म नहीं कटते

किन्तु आनन्दके अनुभवसे कर्म कटते हैं। विशुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभव होनेसे स्वाधीन सुगम उस आनन्दके अनुभवसे ये समस्त असयम के जहर दूर हो जाते है।

स्वरूपनिर्णयका प्रथम कर्तव्य—हमारा कर्तव्य है कि पहिले तो ठीक निर्णय बनायें, सही निश्चय बनायें कि धर्मके लिए हमें करना क्या है? पहिले तो हम सही जवाब अपने आपसे ले लें, फिर आप धर्मके लिए कुछ भी उद्यम करें उससे पूरा लाभ लेते रहेंगे। अब तक प्राय. यह निर्णय ही नहीं किया कि धर्मके लिए हमे क्या करना है, धर्मके लिए क्या करना होता है? इस निर्णयके बिना पचासों वर्षोंकी दसलक्षणी हो जायें, पचासों वर्षोंके सारे पर्व मना लिए जायें और पचासों बडे-बडे समारोह भी कर लिए जायें, किन्तु बादमें यह दिखता है कि यह पुरुष तो वहींका वहीं है, फर्क क्या आया? अरे फर्क जिसमें आता है उसकी तो बात ही नहीं की, उसका चिन्तन ही नहीं किया। मैं क्या हू, मेरा क्या स्वरूप है और किस प्रकारका मैं रहू, कैसे मैं अपना ज्ञान करूँ तो मुझे शान्ति मिले? इसका कुछ निर्णय ही नहीं किया। केवल बाहर-बाहर दृष्टि करके मन, वचन, कायके प्रयत्न किए गए हैं। प्रथम कर्तव्य है अपना सही निर्णय कर लेना।

सम्यक्त्वकी प्राथमिकता—किसी भींतपर बहुत बढ़ी चित्रकारी करानेकी जल्दी मचानेकी अपेक्षा यह ज्यादा हितकर होगा कि उस भींत की पहिले खूब सफाई करलें, उसे पहिले एकसी चिकनी बना दें। यह काम पहिले करनेका है, यह काम तो कोई करे नहीं, ऊँची नींची भींतपर बड़े अच्छे कीमती रगोंसे चित्र बनाना शुरू कर दे तो चाहे जितना समय खराब करदे, पर वहाँ कुछ भी लाभकी बात न आयेगी। इसी तरह हम धर्मपालन करनेके लिए बहुत यत्न करते हैं। यात्रा पूजन विधान अनेक श्रम करते हैं, उन श्रमोंके करते हुएमें ही क्रोध आता रहता है। पीछे की ही बात जाने दो, पूजा करते जाते है, ध्यान, जाप करने बैठे हैं, जरा सी प्रतिकूल बात होने पर वहीं क्रोध उमड़ आता है। अरे धर्म तो एक ऐसी तैयारी है कि प्रतिकूल बात आये तो वहाँ उस प्रतिकूलताको मिटा दे और अपना आत्मशौर्य भी प्रकट रहे। शान्त रहे सुखी रहे, कभी विपत्ति आये, प्रतिकूलताएँ आयें तो वहाँ इस शान्तस्वभावी धर्मका और अधिक उपयोग करें।

विपदामें धर्मोत्साहकी विशेषता—जैसे कोई राजा करोड़ों रुपये प्रति वर्ष सेना पर खर्च करता हो, १०-२० वर्ष खर्च किया। इतनेमें किसी शत्रु ने इस राजा पर आक्रमण कर दिया। अब राजाके मनमें यह आये कि ये सब सेनाके लोग बैठे रहे, पडे रहे, खूब सोते रहे और करोड़ों रुपये

हमने खर्च किये बेकार हैं यह सेना हटावो, ऐसा उसके चित्तमें आये और वह हटा दे तो उसका क्या हाल होगा ? जो कुछ रहा सहा राज्य है वह सब खत्म हो जायेगा, शत्रु अभी ही छुड़ा लेगा। कभी कोई शत्रु आक्रमण करे, उस समय यह विचारे कि अब तक इतना खर्च किया, अब मौका है, इसमें और डबल खर्च करें, उत्साह दे कि शत्रुसे सेना भिड़ जाय, सामना करे। वह राजा बुद्धिमान् है जो सेनाको उत्साह दे और डबल खर्च बढा दे और वह राजा मूर्ख है जो किसी शत्रुके द्वारा आक्रमण करने पर यह विचार करे, हमने बीसों वर्ष करोडों रुपया खर्च कर दिया और देखो शत्रु ने आक्रमण कर दिया, यह सेना बेकार है, इसे हटावो। ऐसे ही सोचिये कि अनेक वर्षोंसे हम धर्म करते चले आये हैं, हम पर कोई विपदा आये और उस समय हम श्रद्धानसे डिग जायें, देखो बीसों वर्ष पूजा की, सत्सगतिमें रहे, गुरु सेवायें कीं और फल यह हुआ कि यह विपदा आ गई, हटाओ इस धर्मको। इस धर्मने तो कुछ फायदा ही नहीं दिया। यह उस समय इस धर्मको छोड़ दे तो उस मूर्ख राजाकी तरह इसकी गति होगी। विवेकी पुरुष विपदा आने पर धर्मको और दूना उत्साहित करता है, ऐसी विपत्तिके समयके लिए ही तो यह धर्म शरण रहा करता है और विशेष धर्माचरणमें लग जाय तो वह बुद्धिमान् है।

धर्मकी स्वभावरूपता—धर्म आनन्दस्वरूप है, विशुद्ध ज्ञानरूप है। यह धीरेसे ज्ञानबलको अन्दर ही अन्दर करनेकी चीज है, कहीं हाथ पैर पीटकर परिश्रम बताकर धर्म नहीं लूटा जाता है। धर्म तो शान्तिसे ज्ञान के मार्गसे अपने आपमे स्वयं प्रकट होता है। इस धर्मके प्रसादसे साधुजन कर्मोंका संवर करते हैं।

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेपि दुर्घटा ॥१८७॥

सद्बुद्धिके पहरेमें पापोंका अप्रवेश—जिस पुरुषके हृदयमें सद्बुद्धिका पहरा लगा हुआ है उसके हृदयमें ये पाप क्या फटक सकते हैं ? जब हृदयपरसे सद्बुद्धिका पहरा उठ जाता है तो ये पाप पहरारहित द्वार देखकर शीघ्र घुस आते हैं, पापोंमें प्रवृत्ति होनेके बाद क्लेश होता है। ये पापी पुरुष पापकी क्रियाओंको करते हुए चैन मानते हैं, अपनेको बड़ा चतुर समझते हैं, किसीकी आँखोंमें धूल झोंककर किसी पाप और छलके कार्यमें कुछ सफल हो गए तो छली लोग अपने को बड़ा चतुर समझते हैं, किन्तु पाप समान विपदा और कुछ नहीं है। पाप ही एक विपदा है, जिसके पाप आते हैं उसके यही तो विपदा है। आगे भी विपदा आयेगी। जिसके पाप रुक गए हैं तो यही तो सम्पदा है। इस समय भी वह सुखी

शान्त है और भविष्यमें भी सुखी शान्त रहेगा। जैसे चतुर द्वारपाल गंदे असभ्य पुरुषोंको दरवाजेमें आने ही नहीं देता, महलोंमें प्रवेश नहीं करने देता, इसी प्रकार जिसके हृदय पर सद्बुद्धिका पहरा लगा हुआ हो तो वहाँ सद्बुद्धिका पहरा पापोंको हृदयमें फटकने न देगा। इतना साहस होना चाहिए कि कोई कष्ट आये तो ईमानदारीसे उस कष्टको सहन करना मजूर करें, पर उस कष्टसे विडम्बना छुटानेके लिए अयोग्य आचरण न करें।

सयममे अन्त.निराकुलता—देखनेमें तो ऐसा लगता है कि सयमी लोग बडे दु खी हैं, मुश्किलसे तो उनका भोजन बना और वह भी सतुलित सीमित साधारण और खाने बैठे उसमे मक्खी गिर जाय तो उसे भी छोड़ देते हैं, और ये असयमीजन बडे सुखमें हैं, दो चार बार जैसा चाहें खाते है, खेलते हैं, हँसते हैं, कुछ चिन्ता नहीं है। इन संयमीजनोंको कहीं जाना पडे, यात्रा करनी पड़े तो कुछ बर्तन दाल चावल, घी अनाज वगैरह का कितना ढेर इन्हें संगमें ले जाना पड़ता है? ये असंयमी लोग बडे अच्छे हैं। सीधे यों ही चल दिये। जहाँ भूख लगी सब जगह मिलता है। पैसा निकाला, खाया पिया चल दिये। इन असयमीजनोंका परिग्रह भी कम है, खानेको साथ नहीं ले जाना पड़ता, तो देखनेमें कितना फर्क मालूम हुआ, पर रही भीतर शान्ति अशान्तिकी बात। उसकी ओर तकें तो कुछ तथ्यकी बात मिलेगी। कोई सयमी गृहस्थ जिसको एक बार ही खानेकी आदत है नियम है और निर्दोष रहनेका जिसने अभ्यास किया है उसे क्या जरूरत है कि जगह-जगह खिड़कियोंसे झाके और कुछ खरीदे खाये। वह तो अपनी जगह बैठा हुआ ही प्रसन्न है। समय गुजरा आगे चल दिया। कौनसा उसे कष्ट हो गया? कष्ट तो चित्तकी बात है। जिसकी वाछायें बढ़ी हुई हों, जिसको विषयोंका प्रेम बढा हुआ हो वह पुरुष, साधन मिले हों तब भी दु खी, न मिले हों तब भी दु खी।

आनन्दके लिये निरीहताका उपाय—दु खका कारण विषयोंका साधन नहीं है। दु खका कारण विषयोंका विकार नहीं है। इच्छाका उत्पन्न होना सो दु:खका कारण है और इच्छा न रहना सो आनन्दका कारण है। सर्व प्रयत्न करके तत्त्वज्ञानके द्वारा यह यत्न करें कि हमारी कमसे कम इच्छा हो और जो इच्छायें चलती हों उन्हें भी अपना अपराध माने। उन्हें भी दूर करनेका चित्तमें भाव रक्खें। सद्बुद्धिका पहरा अपने आत्मा के चारों ओर बना रहना चाहिए। तब यह आत्मा सुरक्षित रहेगा। सद्-बुद्धि न रहेगी तो अनेक व्यसन, अनेक पाप, अनेक खोटी वासनाएँ इसके हृदयमें घर करेंगी। फिर इसमे मन, वचन, काय सब विडम्बनाओंसे लगी हुई प्रवृत्ति होगी। उसमें क्लेश रहेगा। अपने आपको सभालें,

अपनी ओर दृष्टि दें और अपने को ज्ञानानन्दमय देखकर प्रसन्न रहें तो इस शुद्ध वृत्तिसे कर्मोंका संवर होता है और पहिलेके बंधे हुए कर्मोंकी भी निर्जरा हो जाती है। कर्मोंका बोझ हटे इसमें ही अपना कल्याण है।

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवर ॥१८८॥

स्वरूपनिश्चलतामे परम संवर—जिस समय समस्त कल्पनासमूहोंको छोड़कर अपने स्वरूपमें यह मन निश्चल होकर रहता है उसही समय मुनि के उत्कृष्ट संवर होता है। इस जीवके विभावका और कर्मोंके आनेका कैसा निमित्तनैमित्तिक संबन्ध है—जैसे ही यह जीव रागद्वेष मोह भावरूप परिणमता है उसी समय ये कर्म इस आत्मामें बँधते हैं और उनकी स्थिति और फलदान शक्ति निश्चित हो जाती है और जब ही यह ज्ञानी पुरुष कल्पनाओंको त्यागता है जिनके आधार पर मोह रागद्वेष हुआ करते हैं, कल्पनाओंको त्यागकर जैसे ही यह अपने आपके स्वरूपमें मग्न हो जाता है, वैसे ही याने उसी समय यहाँ कर्मोंका संवर हो जाता है। फिर कर्म नहीं आते।

कर्तव्यस्मरण—भैया! इस जीवको करनेका यही काम उत्कृष्ट पड़ा हुआ है, अपना ज्ञान सही बनाये और अपने ज्ञानको अपने स्वरूपमें मग्न करदे, ऐसा किए बिना जीवका उत्थान नहीं हो सकता। अपराध करने वाला पुरुष यदि अपने अपराधको समझता रहेगा तो ये अपराध कभी दूर भी किए जा सकते हैं। एक अपराधी अपराध भी कर रहा है और अपराध मान नहीं रहा है तो उसका अपराध कैसे दूर हो? ऐसे ही मोह रागद्वेष करनेके अपराधोंको यदि अपराध समझते रहे, घरमें या सम्पदा में हमारा जो प्रीतिका परिणाम रहता है यह दोष है, यह कलंक है, मेरा अहितरूप है। मेरा कुछ वास्ता नहीं, ऐसा यदि सही ज्ञान बनाये रहे तो कभी यह अपराध दूर हो जायेगा और कोई अपराध तो माने नहीं, किन्तु परिजनके, वैभवके राग करने को ही एक अपना कर्तव्य समझता रहे, मैं बहुत चतुर हूं, मैं बहुत महान् हूं ऐसी ही परिणति बनाये रहे तो उसका यह अपराध कैसे दूर होगा? जब तक अपराध दूर नहीं होता तब तक आत्माको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। रागके करनेमें इसे शान्ति कब मिले? कितना ही धन वैभव जुड़ जाय किन्तु इस जीवको चैन तो कभी मिलती नहीं क्योंकि परपदार्थोंपर दी हुई दृष्टि विकल्प तरंगें ही उत्पन्न किया करती है। शान्तिका वह मार्ग नहीं है।

प्रभुपूजा स्वरूपस्मरणकी प्रयोजिका—हम देव अरहंत सिद्धको क्यों पूजते हैं? इस कारण कि उनका स्मरण करके हमें यह निश्चय होता है

कि करने योग्य काम तो यही है जो इन प्रभुने किया। बस अपने इस सत्य कर्तव्यके स्मरणमें सहायक है प्रभुकी पूजा। जब यह मन किसी अन्य प्रकारसे अपने आपके स्वरूपमें निश्चल हो जाता है उस समय कर्म रुकते हैं। इन कर्मोंके निरोधमें मुख्य उपाय है संयम, अपने मनको संयमित करें, अपने आचरणोंको संयत बनायें तो संयमके प्रतापसे कर्म रुकते हैं। अब परमसंवरकी महिमा बताते हुए इस प्रकरणमें यह अन्तिम छंद कह रहे हैं--

सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः।
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः ॥१८६॥

संवर महावृक्ष—यह संवररूपी महान वृक्ष कैसा है? उसका वर्णन इस छंदमें कर रहे हैं, संवरका आख्यान, संवरकी विशेषताओं का वर्णन एक वृक्षरूपी रूपक बना करके कर रहे हैं। जैसे वृक्ष होता है तो वृक्षमें अनेक तो जड़ें हुआ करती हैं जिन जड़ोंके आधारपर वृक्ष सधा हुआ रहता है एक बात। दूसरी बात वृक्षमें तना होता है, जहाँ तक शाखायें न फूटें वहाँ तकका जो मोटा भाग है ऐसा तना हुआ करता है। तीसरी बात वृक्षमें अनेक शाखायें हुआ करती हैं। चौथी बात वृक्षोंमें फूल हुआ करते हैं और ५ वीं बात वृक्षोंमें फल लगा करते हैं। ऐसी ही अन्य अनुपम संवरकी ५ विशेषताओंको वृक्षोंके रूपमें बता रहे हैं। संवररूपी महावृक्षकी जड़ें हैं समस्त समितियाँ। संवर कहते हैं कर्मोंका न आना और अपने भावोंका शुद्ध बनाना। इस संवररूपी वृक्षकी जड़ हैं समितियों का पालन। समस्त समितियां इन वृक्षोंकी मूल हैं। जैसे जड़ें बहुत होती हैं ऐसे ही इस संवरवृक्षकी जड़ ये ५ समितियां हैं और इस संवरवृक्षमें संयमका बहुत विशाल तना लगा हुआ है, जिस तनेके ऊपरसे विशुद्ध भावोंकी बड़ी बड़ी शाखायें निकलती हैं और उन शाखाओंमें फूल किस के हैं? धर्मके जैसे वृक्षमें फूल हुआ करते हैं। ऐसे ही संवरवृक्षमें धर्मके फूल हैं—क्षमा मार्दव आर्जव आदिक और इस संवरवृक्षमें फल क्या हैं? वे फल बहुत पुष्कल दृढ़ और शाश्वत आनन्दके देने वाले हैं। यह संवर-वृक्ष बारह भावनाओंसे बन्धुर है अथवा बारह भावनाओंके छोटे फलोंसे बढ़कर आनन्दके महाफलको देने वाला है। यह संवरवृक्ष अपने विपक्षको जीतने वाला है अर्थात् जहाँ संवर है वहाँ कर्मोंका आना नहीं हो सकता।

जीवके साथ कर्मोंका सम्बन्ध—सब कर्म जीवके साथ लदे हुए हैं, इसका परिमाण यह है कि जीवके साथ कर्म न लगे होते तो यह जीव

नानारूपोंमें क्यों बनते ? आत्माका तो सबका स्वरूप एक प्रकार है लेकिन कोई आत्मा पशु पर्यायमें है, कोई पक्षी पर्यायमें, कोई कीटमें नरकमें कोई मनुष्यमें और इसमे भी भिन्न-भिन्न तरहकी प्रकृतियां एक मनुष्यकी प्रकृति दूसरे मनुष्यसे नहीं मिलती। यद्यपि अरबों खरबोंकी संख्यामें मनुष्य हैं लेकिन एककी प्रकृति दूसरेसे नहीं मिलती। जैसे कि एक मनुष्य की वाणी दूसरेकी वाणीसे नहीं मिलती। आखिर जहाँ गला होता है वहीं सबका गला है, जहां जीभ नाक है वहीं सबके जीभ, नाक, दात आदि हैं और जिस तरहसे बोलना होता है उस तरहसे सब बोला करते हैं लेकिन एककी वाणी दूसरेसे नहीं मिलती। जैसे कि अक्षर एकके दूसरे से नहीं मिलते। भला बतावो अक्षर वही ३३ व्यञ्जन और उनमें १६ स्वर लगे हुए हैं, १४ स्वर होते हैं, दो तो अनुनासिक व विसर्ग होते हैं वे स्वर नहीं हैं किन्तु स्वरके साथ लगा करते हैं तो इतने ही नियत अक्षर हैं और ये अरबों खरबों मनुष्य उन्हीं अक्षरोंको लिखें तो एकके अक्षरोंसे दूसरोंके अक्षर नहीं मिलते हैं। तो ये जब ऊपरी बातें एककी दूसरेसे नहीं मिलती तो अनेक विशेषताओंका कारणभूत ये कर्म भी किस एकके दूसरे से क्या मिलेंगे ? प्रत्येक संसारी जीवके साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्म लगे हुए हैं।

कल्याण सवर और निर्जराका प्रसाद—जो पुरुष कर्मोंका क्षय करते हैं वे ससारसे पार होकर मुक्त हो जाते हैं और जो कर्मोंको बनाते रहते हैं, बढाते रहते हैं वे इस ससारसागरमें भ्रमण करते हैं। यह आत्मा अनादि कालसे अपने स्वरूपको भूला चला आ रहा है, इसी कारण नाना प्रकारके कर्म इसके बँधते रहते हैं। लेकिन जब यह अपने स्वरूपका पहिचाननहारा बने और स्वरूपको जानकर इसही निजतत्त्वमें लीन हो तब फिर इसके कोई विपदा नहीं रहती। कर्मोंका आना बन्द हो जाता है और बँधे हुए कर्म भी झड़ जाया करते हैं और इस सवर और निर्जराके प्रसादसे ये सर्व प्रकारसे सर्वमलोंसे मुक्त हो जाते हैं। वह संवर भाव कैसे मिले ? उसके लिए संक्षेपमें इतना ही समझना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र बननेपर यह संवर प्रकट हो जाता है। जहां इसकी पूर्णता हो जाती है, एकता हो जाती है वहां पूर्ण संवर प्रकट होता है।

सुधारके अवसरको न खोनेका अनुरोध—विषयोंसे कषायोंसे हम आप की विजय नहीं हो सकती, उसमें क्लेश ही क्लेश आयेंगे। इस कारण इन विषयोंसे कुछ विराम लें और अपने स्वरूपकी खबर लें। इस रागद्वेष मोहसे कषायोंसे भ्रमोंसे इस जीवका अकल्याण ही है। हम जब भी चेतें

तभी भला है और यदि अभी नहीं चेतते हैं, जो अवसर मिला है सुधार का, इस अवसरका लाभ न उठा पाये तो आगे क्या आशा की जा सकती है। मान लो मरकर कीड़ामकौड़ा बन गए तो फिर क्या रहा इसका? यहाँ तो यह मनुष्य अपने वैभवपर नाज करता है। अपने यश पर, अपने परिजन समूह पर यह गर्व करता है और मरनेके बाद कीड़ा मकौड़ा बन गये, पेड़ पौधे हो गये, कहा गर्व रहेगा? ये समागम रमनेके लिए नहीं हैं। बुद्धिमान गृहस्थ तो इस समागमका भी उपयोग जैसे अपना मोक्षमार्ग चल सके, उसमें बाधा न आये उस प्रकार करता है। एक ही लक्ष्य हो जो प्रभुका मार्ग अपनाया वही मुझे अपनाना है तब कल्याण है।

निर्जरा भावना

यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ॥१६०॥

निर्जरणभूमिका--जिस निर्जराके द्वारा कर्म नष्ट कर दिये जाते वह निर्जरा मोक्षमें ले जाने वाली निर्जरा है ऐसा संयमी पुरुषोंने कहा है। ये कर्म जन्म मरण करानेके कारणभूत हैं। इन कर्मोंसे हम आपमें बड़ी विचित्रता उत्पन्न हो जाती है। एक समान नहीं रह सकते हम आप। कभी किसी तरहकी कल्पनाएँ जगती हैं, कभी किसी तरहकी और उन्हीं कल्पनाओंसे यह जीव बेचैन रहता है। भला बतलावो यह समस्त लोक कितना बड़ा है? कितना बड़ा तो अधोलोक और कितना विशाल ऊर्ध्व लोक और कितना विशाल अन्य समस्त स्थावर लोक? सब कुछ मिलाकर ३४३ घनराजू प्रमाण लोक बनता है। इतने बड़े लोकमें आज जितनी जगहका हम आपको परिचय है? यह समुद्रकी एक बूँद बराबर जगह है। इतनी सी जगहका ममत्व करके कौन सी सिद्धि पा लेगा यह जीव?

जीवनकी विनश्वरताका प्रत्यय--भैया! जीवन है जलके बबूलेकी तरह। जैसे ऊपरसे जल गिरनेसे बबूला बन जाता है तो वह कितनी देर ठहरता है? क्या वह बबूला बना रहनेके लिए बना है? वह तो मिटेगा। क्या हम आपका यह जीवन जीवन बना रहनेके लिए बना है? यह तो मिटेगा। और ये सब मिटनेकी ही तो निशानी है। वह बढ़कर जवानी निकल गयी, बुढ़ापा आ गया और वह भी बहुत जल्दीसे बढ रहा है। तो ये सब बातें, जीवन न रहेगा इसीके ही तो संकेत हैं और संकेतोंका क्या प्रयोजन? आखों देखते तो रहते हैं, कितने ही लोग मरते हैं तिस पर भी इन मरने वालों को देखकर भी समझ नहीं आ पाती, यह कितने खेदकी बात है।

तद्भवमरणके अवबोधका दृढीकरण--कोई शराब पीने वाला व्यक्ति

शराब बेचने वाले की दुकानपर जाय और वह दुकानदारसे कहे देखो मुझे बहुत बढ़िया शराब देना वह विश्वास देता है। हां हमारे पास बहुत बढ़िया शराब है।.... अजी नहीं, अमुक शराब देना। हां हां वही है। नहीं बहुत बढ़िया देना। तो वह दुकानदार कहता है कि हमारे यहां बहुत ही अच्छी शराब है। इसका प्रमाण यह है कि देखो मेरी दुकान पर दसों आदमी शराब पीकर बेहोश पड़े हुए हैं। बेहोश पड़े हुए लोगोंको देखकर भी उसे उसकी शराबका विश्वास नहीं हो रहा है कि यहां बहुत बढ़िया शराब मिलेगी। यों ही यहां हम आप सभी देख तो रहे हैं कि ये अनेक लोग मर रहे हैं, पर अपने बारेमें यह सही विश्वास नहीं बना पाते कि इसी तरह हमें भी मरना है।

निर्जराभावका उत्सहन—भैया! मर कर कहो कहांके कहां पैदा हो गए, फिर यह परिचय वाली जगह इसके लिए क्या रहेगी? तो कितनेसे परिचयके साधनोंमें ममत्व किया जाय, कितनेसे परिचित लोगोंके लिए अपना समस्त संयम बिगाड़ दिया जाय? यहां कुछ भी सारभूत बात नहीं है। इस जीव पर कर्मोंका भार लदा है यही तो बड़ी विपदा है। उस विपदाको दूर करनेका यत्न करना है। ये समस्त कर्म जन्म मरणके कारणभूत हैं। इन कर्मोंको संयमी पुरुष ही दूर किया करते हैं। जिनके बन्धन गल गए हैं, जिनके कर्मोंकी निर्जरा चल रही है ऐसे ऋषि संतोंने यह रहस्य बताया है कि शुद्ध तत्त्वका आदर करें और निज शुद्ध ज्ञान-स्वरूपमें अपने ज्ञानको मग्न करें तो यह निर्जरा तत्त्व प्रकट होगा और निर्जरासे ही यह जीव हल्का होगा, भाररहित बनेगा और सर्वकर्मोंसे मुक्त होकर फिर अपने ऊर्द्ध-गमन स्वभावके कारण लोकके शिखर पर विराजमान् होगा।

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम्।
निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम्॥१९१॥

निर्जराके प्रकार—निर्जरा दो प्रकारकी होती है—एक सकामनिर्जरा और एक अकामनिर्जरा। इनमें से सकामनिर्जरा तो मुनियोंके होती है और अकामनिर्जरा समस्त जीवोंके होती है। सकामनिर्जराके समयमें जो कर्म झड़ा दिये जाते हैं अपने व्रत तपश्चरणके द्वारा, आध्यात्मिक आचरणके बलसे वह सकाम निर्जरा है और अपना समय पाकर जो कर्म झड़ते रहते हैं वह अकामनिर्जरा है। इस ही का नाम उदय है। जो कर्म आये हैं बँधे हैं वे तो उदयमें आ गए। भक्त कर्मोंके उदयसे न घबड़ानेके लिए यह चिन्तन करता है कि जो कर्म बँधे हैं वे तो भुगतने ही पड़ते हैं, आये हैं कर्म और उनके उदयमें मिली है विपदा तो घबड़ायें तो भी हम

छूट नहीं सकते विपदासे और न घबड़ायें तो इस बाह्यपरिग्रहरूप विपदा से छूट नहीं सकते। जैसा वर्तमानमें उदय है वह मिल रहा है, लेकिन धैर्य यदि होगा तो वह विपदा कम हो जायेगी और आगे विपदासे छुटकारा हो जायेगा। धैर्य न होगा तो वह विपदा कई गुणित हो जायेगी और आगे भी ऐसी विपदायें आती रहें, इसका विनिश्चय हो जायेगा। तो हम विपदाओंसे घबड़ायें नहीं।

विपदाओंकी कल्पना और सहति—भैया! विपदायें हैं ही क्या? कल्पनाओंसे मान लिया। मान लो वैभव कम हो गया तो आत्मापर क्या विपदा आयी? मान लो मरण हो गया, इस देहसे छूटकर इस आत्माको जाना पड़ा तो इस आत्मापर क्या विपदा आयी? यदि यह आत्मा अपने स्वरूपका भान बनाये रहे, अपने ज्ञानमें अपना यह ज्ञानानन्दस्वरूप बना रहे तो इसको तो कहीं विपदा ही नहीं है। यहाँ न रहे, दूसरी जगह चले गए, क्या हो गया, इस पर कुछ विपदा नहीं। विपदा तो कल्पनाएँ करती हैं और मोहसे विपदा बना डालते हैं। सर्वसंकटोंके मिटानेका यही मूल उपाय है कि हम अपना शुद्ध ज्ञान बनायें और अपने आत्माके इस सहज सत्य स्वरूप रूप ही अपनी प्रतीति करते रहें। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप हू, इस प्रकार अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव करें तो सर्वसंकट स्वयमेव समाप्त हो जायेंगे।

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा।
तथाऽत्र कर्मणां ज्ञेय स्वयं सोपायलक्षण ॥१६२॥

द्विविध निर्जरा—कर्मोंकी निर्जरा २ प्रकार की होती है—एक तो स्वयनिर्जरा और दूसरी सोपाय निर्जरा। जैसे आम आदिक फल दो तरह से पका करते हैं—एक तो स्वय अपना समय आने पर डालमें पक जाते हैं और एक कच्चे फलोंको तोड़कर भुस या पत्तोंमें दबाकर पकाया जाता है। जो अपने समयमें खुद पक जाते हैं उन्हें कहते हैं स्वयंपाक और जो भुस पत्ते आदिकमें दबानेके उपायसे पका करते हैं उन्हें कहते हैं सोपाय-पाक। जैसे वृक्षके फलोंका पकना एक तो स्वय होता है और दूसरा पाल देनेसे भी होता है, इस ही प्रकार कर्मोंका पकना भी एक तो कर्मोंकी स्थिति पूरी होने पर स्वयं होता है अर्थात कर्म अपने समयपर अपना फल देकर खिर जाया करते हैं और दूसरी प्रकारकी निर्जरा यह है कि सम्यग्दर्शन आदिक परिणामोंसे सहित तपश्चरण किये जानेसे जो कर्म नष्ट होते हैं, खिरते हैं वह है सोपायनिर्जरा।

निर्जराओंकी विशेषता—स्वय निर्जरा तो सभी जीवोंके हो रही है। संसारके सभी प्राणी अपने परिणामोंसे कर्मोंका बन्धन करते हैं और उन

कर्मोंमें कषायोंके अनुसार जितनी भी स्थिति पड़ी है उस स्थितिके पूर्ण होने पर फल दिया करते हैं। ऐसा तो सभी जीवोंके संसारियोंके लग रहा है इसे उदय कहते हैं। इस स्वयपाक रूप निर्जरासे जीवका हित नहीं है, यह तो फँसावका कारण है। इसका फल होगा कि उस कालमें अनेक नवीन कर्म और बँध जाते हैं। इससे आत्माकी कुछ सिद्धि नहीं होती। किन्तु तपश्चरण, ज्ञानदृष्टि, तत्त्वरमण, आत्ममग्नता आदिक उपायोंसे जो बहुत काल आगे उदयमें आने थे उन कर्मोंका स्थिति खण्डन करके अभी ही एकदम खिरा दे, चाहे उनका कुछ फल मिलकर खिरे और चाहे कुछ भी फल मिले बिना खिरे, वह सोपायनिर्जरा कहलाती है। इस सोपाय निर्जरासे मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

कर्मविदारणकी शक्यता—एक ऐसी कहने की रूढ़ि है कि जो कर्म बांधे हैं उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा पर बात पूरे नियमसे यह नहीं है कि जो कर्म बांधे हैं उन्हें भोगना ही पड़े। प्रायः करके भोगना ही पड़ता है, पर कोई ज्ञानी संत पुरुष तपश्चरण, संयम सम्यक्त्व अन्तरमणके प्रसाद से कर्मोंको बिना फल दिये भी खिरा सकते हैं। कोई नियम नहीं लेकिन जिनको कर्म भोगने ही पड़ते हैं ऐसे जीव हैं अनन्तानन्त। उन अनन्तानन्त जीवोंमें से यदि १०-५ जीव ऐसे निकल आयें कि जो सम्यक्त्व, संयम, तपश्चरण आदिकके प्रभावसे कर्मोंको नष्ट कर दें, बिना फल दिये खिरा दें तो वे कितनी गिनतीके हैं। इस कारण यह कहा जाता है कि जिसने जो कर्म बांधे हैं उसको वे कर्म भोगने ही पड़ते हैं, पर यह नियम की बात नहीं रही। सम्यक्त्वमें, चारित्रमें ऐसा प्रताप है कि कर्मोंको बिना फल भोगे ही खिराया जा सकता है। इस प्रकार जो कर्म खिरा करते हैं उस निर्जराका नाम है सोपायनिर्जरा।

सोपायनिर्जरासे लाभ—उपाय करके कर्मोंको खिरा देना, इसमें सिद्धि है, आत्मलाभ है, किन्तु जो स्वयपाक है समय आने पर झड़ गया, फल देकर खिर गया ऐसी स्वयंपाक निर्जरासे आत्माको सिद्धि नहीं है। बारह भावनाओंमें यह निर्जरा भावनाका प्रकरण है। स्वयंपाक निर्जरासे क्या लाभ है ? उसमें तो सभी जीव बँधे हुए हैं, पर सोपायनिर्जराका स्वरूप साधन यत्न सोचा जाय तो इस निर्जरासे लाभ है।

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम्।
यद्वत्तथैव जीवेन तप्यमानस्तपोग्निना ॥१६३॥

विशुद्धिका उपाय—जैसे मलसहित सोना, किट्ट कालिमासे भरा हुआ सोना अग्निमें तपानेसे विशुद्ध हो जाता है, दोषरहित निर्मल हो जाता है इसी प्रकार कर्मोंसे दोषोंसे सहित यह जीव कर्मरूप तपमें तपानेसे विशुद्ध

और निर्दोष हो जाता है। तपश्चरणका और संयमका बहुत बड़ा माहात्म्य है। प्रायः आजकलके मनुष्योंने संयम तपश्चरण कष्टसहिष्णुता इनको तिलाञ्जलि दे रक्खी है, पर यह लाभकारी प्रथा नहीं है। धनोपार्जनके लिए तो कितने ही कष्ट सह लें, वहां कुछ विचार नहीं करते, किन्तु किसी धर्मलाभके लिए, ज्ञानार्जनके लिए या किसी धर्मप्रसंगमें कुछ समय लगाना पड़े, कुछ त्याग करना पड़े तो उसके लिए इसे प्रमाद आता है। कष्ट नहीं सहा जाता है।

धर्महेतु कष्टसहिष्णुतामें लाभ—भैया ! धर्महेतु कोई कष्ट न सहे तो जितना कष्ट सह लेना चाहिए था, उससे कई गुणा कष्ट उसे सहना पड़ेगा। जैसे उदाहरणमें ही ले लो। ८ दिनमें एक दिन एकासन करे कोई सिर्फ एक बार ही तो न खाये, एक ही बार खा ले, इतना कष्ट एक नियम पूर्वक सहता जाय या ८ दिनमें एक दिनके उपवास का कष्ट ही सहता जाय तो उसके शरीरकी गाड़ी अच्छी तरह चलतीजायेगी। न सहे कष्ट तो वर्षभरमें एक महीना लगातार बीमार हो गए तो हिसाब लगालो बराबर कष्ट पड़ गया या नहीं अथवा उससे कई गुना कष्ट हो गया या नहीं। कितनी ही ऐसी विपदाओंकी सम्भावना रहती है कि अकस्मात ही बैठे खड़े विपदा आ जाय किन्तु ऐसी अनेक विपदाएँ उनके दूर रहती हैं जिनका चित्त धर्मकी ओर लगा रहता है और नित्य नियमसे रहकर भक्तिके समय भक्ति और जापके समय जाप, इस प्रकार समय व्यतीत करते हैं, उसके अनेक विपदायें दूर हो जाती हैं अथवा आती ही नहीं हैं। तो संयम और तपश्चरणका माहात्म्य बहुत है। इस लिए अपनी शक्ति पूर्वक धर्म करना चाहिए।

तपश्चरणसे विशुद्धि—स्वर्ण मलिन भी हो तो अनेक बार अग्निका संताप सहनेसे वह निर्दोष हो जाता है। ऐसे ही पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भावोंसे मलिन यह जीव कषायोंकी वासनाओंसे संबद्ध रहने वाला यह जीव अनेक धर्माचरण और तपश्चरणको करे तो इसकी अनेक वासनाएँ खोटी वृत्तियां यों ही दूर होती रहती हैं। संयमसे प्रीति करना, तपश्चरण का शक्तिपूर्वक साधन करना, एक आत्मरक्षाके लिए यदि कुछ शारीरिक कष्ट सहन करना पड़े और अपने आत्मामें एक विशुद्ध आनन्द अथवा निर्दोष प्रयत्न आये तो वह कष्ट क्या कष्ट है ? यह सदोष भी जीव तपश्चरणके प्रतापसे निर्दोष हो जाता है तभी तो गृहस्थधर्ममें गृहस्थोंको धर्मके प्रसंगमें ऐसे कर्तव्य बता दिये कि जिनमें ये लगे रहें और साधुओं को ऐसे कर्तव्य बता दिये कि साधु उनमें लगे रहें ताकि कोई खोटी वासना खोटे विचार न उत्पन्न हों।

आत्मलाभका कर्तव्य—धर्मचर्याके काम गृहस्थोको भी ६ प्रकारसे बताये है। गृहस्थोंको बताया कि वे प्रभुपूजामें अपना कुछ समय लगायें और गुरुवोंकी सेवामें, वैयावृत्तिमें कुछ समय लगायें, कुछ स्वाध्यायमें समय दें, कुछ संयमपूर्वक आचरण करनेमें समय दें, तपश्चरण भी करें और कुछ दान भी करते रहें, ये ६ प्रकारके काम गृहस्थियोंको बताये। कोई करे, तो उस वातावरणसे आत्मलाभ ले सकता है और न करे तो लाभ कहाँसे मिलेगा? सूर्यका काम तो एक प्रकाश कर देना भर है। अब सुबह कोई उठे और खुद चले तो यह उस पुरुषका काम है। जैसे किसी को ४-६ मील कहीं जाना है तो सूर्य तो न चला देगा। सूर्य तो एक मार्गदर्शक हो गया, प्रकाशक हो गया। अब जगने वाले जगें और चलने वाले चलें यह तो उनका काम है। ग्रन्थोंमें वीतराग ऋषि संतोंने करुणा करके सब मार्ग बता दिया है, अब उसपर चलना यह चलने वालेका काम है। इतनी बात अवश्य निर्णयमें रखना कि इस शरीरको सुखिया बनाकर रखनेमें लाभ तो रंच भी नहीं है, हानिया अनेक हैं। इस शरीरको अपने लिए सयम, भक्ति आराधना आदिक कार्योंमें लगायें और दूसरोंके लिए उनका दुःख दूर करना, उन्हें स्थिर करना, मार्गके वचन बोलकर उन्हें मार्गमें लगाना, इन सब उपायोंसे दूसरोंका उपकार करें। अपने शरीरको सुखिया बनाकर न रक्खें।

कर्तव्यपरायणताकी दृष्टि—कोई यह सोचता हो कि शरीरसे कुछ काम कर लेने से या दूसरोंका काम कर देने से यह शरीर दुर्बल हो जायेगा। दुर्बल नहीं होता बल्कि बैठे रहनेसे और अनेक ईर्ष्या विकारके भाव आने से शरीर भी दुर्बल हो जायेगा। समाजमें रहकर घरमें रहकर लोग ऐसी ईर्ष्या रखते हैं—महिलायें परस्परमें ऐसी ईर्ष्या रखती है कि वाह घरमें हम इतना काम करती है, यह दूसरी स्त्री वहाँ बैठी ही रहती है, अरे बैठी रहने वाली महिलाने कितना बल बढ़ा लिया, कितना लाभ ले लिया और काम करने वाली महिलाकी क्या हानि हो गयी, बल्कि बैठी रहने वाली महिलाने व्यर्थमें समय खोया। रही कर्मबन्धनकी बात सो यह तो अपने-अपने भावोंके अनुसार चल ही रहा है। कोई बैठे ही बैठे बुरे कर्म बाँध सकता है, कोई अनेक परिश्रमोंमें रहकर भी कर्मोंका बध कम कर सकता है। जीवको सयमके आचरणमें और कष्टके सहनेमें उत्साह वाला रहना चाहिए। हमारे आत्माकी उन्नति आत्मामें प्रताप आत्मामें प्रभाव हो यह सयम तपश्चरण तथा सम्यक्त्व पर आधारित है।

चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यात्मिकं तपः।
तप्यते जन्मसन्तानशङ्कितैरार्यसूरिभिः ॥१६४॥

तपश्चरणोंका चमत्कार—जो संसारके जन्म मरणसे भयभीत हैं, अपने आत्माके और परपदार्थोंके यथार्थस्वरूपकी जानकारी पा लेने से जो धीर हैं ऐसे मुनीश्वरगण बाह्य तप और आभ्यतर तपसे तपा करते हैं। उनका यह निर्णय है कि भव-भवमें बाधे हुए कर्मोंकी निर्जराका उपाय एक तपश्चरण है, इच्छानिरोध है विकारोंको न आने देना है। यही है एक बड़ा परम तपश्चरण है। ऐसे तपश्चरणसे ही कर्म कटते हैं। यह तपश्चरण लोकमें भी चमत्कार उत्पन्न करता है और अपने आत्मामें भी चमत्कार उत्पन्न करता है। आत्मासे शान्ति आना, आनन्द बढना, आत्मशक्ति प्रकट होना, विशुद्ध जानकारी होना, यह सब आध्यात्मिक चमत्कार है और लोकमें दूसरे पुरुष भी इस तपस्वीको देखकर धर्मके लिए आकर्षित हों, यही है जीवोंपर चमत्कार।

अनशन तप—६ प्रकारके बाह्य तप होते हैं उनमें प्रथम तप है अनशन करना, उपवास करना। अनशनका अर्थ है अशनका त्याग करना, भोजन न करना और उपवासका अर्थ है उप मायने समीपमें वास मायने रहना। अपने आत्माके निकट रहनेका नाम है उपवास। तो अनशन और उपवास—ये दोनों मिलेजुले रहा करें उसका नाम है प्रथम तप। केवल आहारका त्याग करने से तो वह लाभ नहीं मिलता। विषय, कषाय और आहार तीनोंका त्याग होना उसे उपवास कहते हैं।

ऊनोदर तप—दूसरा तपश्चरण है ऊनोदर। इसका दूसरा नाम है अवमोदर्य। ऊन मायने कम, उदर मायने पेट। भूखसे कम खाना सो ऊनोदर तप है। जैसा कठिन अनशन तप है इतना ही कठिन यह ऊनोदर तप है। ऐसा पुरुष कौन गम खाता है कि खाते समयमें सब साधन होने पर भी आधा खाये और छोड़ दे। कोशिश तो लोग दूनोदर करनेकी करते हैं। वह तो खाया नहीं जाता, इसलिए छोड़ना पड़ता है तो इसमें भी अभी निरोधकी बात आयी। जिस बालकका खेलमें चित्त है उसे जबरदस्ती खिलावो भी तो थोड़ा खाकर झट भाग जाता है। वह बालक पूरा खा नहीं पाता है क्योंकि चित्तमें खेल धरा है। खाना तो उसके चित्तमें ही नहीं है। आधा पेट खाया और झट भग गया। ऐसे ही जिसकी धुनमें आत्मस्वरूपकी दृष्टि है, आत्माका खेल जो खेल रहे हैं ऐसे साधु बालक को भी भरपेट खानेको खबर नहीं रहती। कुछ थोड़ा पेट भरा और चल दिया। तो ऊनोदर तपश्चरणमें भी कुछ योग्यता चाहिए तब बन सकता है।

वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन व कायक्लेश तप—भोजन के समय अटपट आखिड़ी लेना और आहारकी विधि मिलने पर भोजन

करना अथवा कम करना, न करना यह सब व्रतपरिसंख्यान है। रसोंका परित्याग करना रसपरित्याग है। यह भी महातप है। लोग तो किसी भी दिन किसी भी रसकी कमी क्यों आये, व्यवस्था बनाये रहते है और ये ज्ञानीपुरुष जान समझकर रसोंका त्याग करते हैं अथवा रसोंकी ओरसे उपेक्षा रखते हैं। एकान्तस्थानमें सोना बैठना रहना, जहां बहुतसे लोग हों, जन सम्पर्क हो वहां न बसकर खाली जगहमें बसना, जहाँ केवल यही यही है और वहां आनन्द मानना यह भी तपश्चरण है। सर्दी गर्मीके दु ख समतापूर्वक सहें किन्तु अपने आत्माके आचरणमें कमी न आने देना यह कायक्लेश तप है। इस तपश्चरणके द्वारा शुद्धस्वरूपमें चमत्कार उत्पन्न करता है और लोकमें भी दूसरोंका धर्मकी ओर आकर्षण होता है।

अन्तरङ्ग तप— ऐसे ही अन्तरङ्गमे ६ प्रकारके तप हैं। अपराध हो जाने पर उसका दण्ड लेना ताकि पुन' यह अपराध न हो। यह प्रायश्चित्त तप है। अपने आपको विनयमें रखना, इसमें मान कषाय नहीं उत्पन्न होती वह विनय है। ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा करना वैयावृत्य है। आत्म-कल्याणकी भावनासे स्वाध्याय करना तप है और शरीरसे भी, समग्र परवस्तुवोंसे भी ममता त्यागना तप है। ऐसे इन अनेक तपश्चरणोंको करके साधुजन कर्मोंका क्षय किया करते हैं। कर्मक्षयका यही उपाय है कि हम सब भी यथाशक्ति सयम और तपश्चरणका आचरण करे।

तत्र बाह्यं तप प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम्।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् ॥१९५॥

तपके प्रकार--कर्मोंका क्षय तपश्चरणसे होता है। जो मनुष्य तपश्चरणमें नहीं लगते अपनी शक्ति माफिक, उनका चित्त विषय कषायों में लगेगा। दो ही तो बातें हैं--या खोटी ओर चित्त लगे या तपश्चरण की ओर चित्त लगे। तपश्चरणसे ही कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है और उन तपश्चरणोंमे से ६ तो होते है बहिरङ्ग तप जो दूसरोंको दिख सकते हैं और जो दूसरे द्रव्योंके सम्बन्धसे होते हैं, जिन्हें दिखावटी धर्मवेशी भी कर सकते हैं, वे बहिरङ्ग तप हैं और जो अपने अन्तरङ्गके भावोंसे उठते है वे हैं अन्तरङ्ग तप। अन्तरङ्ग तप ६ हैं--प्रायश्चित्त करना--कोई दोष हो जाय तो उस दोषका पछतावा करना, विनय रखना, दूसरों की वैयावृत्ति करना, स्वाध्याय करना, कायोत्सर्ग करना और ध्यान करना ये सब अन्तरङ्ग तप हैं। ये सब आत्माके आधीन हैं और अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान रसत्याग, विविक्तशैयासन और कायक्लेश, ये बहिरङ्ग तप हैं। ये परमागममें ६ प्रकारके तप कहे गए। इन सब तपोंको भली प्रकारसे तो साधु पालते हैं और गृहस्थ भी अपनी शक्तिके अनुसार

इस तपका पालन करे।

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥१६६॥

निर्वेदसिद्धिके द्रव्यचिन्तन—प्रथम तो कल्याणार्थीको इस ज्ञानका यत्न करना चाहिए कि दिखने वाले पदार्थ क्या है और मैं क्या हूं? आत्मा और अनात्मामे, स्वमें और गैरमे जिनका प्रसग बना है ऐसे आत्मा व अनात्मा का सच्चा बोध जब तक नहीं होता तब तक कल्याणकी उत्सुकता नहीं हो सकती। इसको भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे देखो। द्रव्यदृष्टिसे ये सब परस्परमे अत्यन्त भिन्न है। यह दृष्टि लगाई जा रही है आत्मा और अनात्माके विवरणमें। एक एक चीजमें नहीं। यह आत्मा और अनात्मा द्रव्यसे जैसे परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं उस तरह दृष्टिमें रखना चाहिए।

क्षेत्रदृष्टिसे आत्मा व अनात्माका चिन्तन—क्षेत्रदृष्टिसे आत्मा और अनात्मा ये सब तीनों लोकोंमें भरे पडे है। मेरी भी गति तीन लोकमें है और अनात्मपदार्थकी भी गति तीनों लोकमें है। कभी किसी सुयोगवश कहीं समागम मिल जाता है, कभी कोई समागम मिले कभी कोई समागम मिले तो यों समागम मिलते रहते हैं और समागम तीनों लोकके कहीं भी मिल जायें। जब यह आत्मा निगोद अवस्थामें रहा तो वहां भी इन कर्मों का सम्बन्ध था। शरीर तो साथ था ही। और जो कुछ भी शरीरमे ग्रहण करना था वह आहार भी था। शरीर वर्गणायें भी होती हैं। तो क्षेत्रदृष्टि से ये आत्मा और अनात्मा कर्मोदयवश तीनों लोकमें ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें सब जगह मिले और बिछुडे। क्षेत्रदृष्टिसे यों देखा।

कालदृष्टिसे आत्मा व अनात्माका चिन्तन—काल दृष्टिसे यह आत्मा भी अनादिसे है और ये कर्म भी अनादिसे हैं। हम आपने कितने कष्ट सहे, कितने समय तक कहा क्या किया? यह बतानेकी कोई साधन सीमा नहीं है। अनादिसे कष्ट सहते आये है और उन्हीं कष्टोंके सहनेकी आदत बनी है। रागमें कष्ट होता है पर उस रागके कष्टको ही आनन्द मानकर यह जीव कष्ट नहीं समझता और उस कष्टमें बना रहता है। इस जीवपर सबसे बड़ी विपदा परपदार्थोंकी ओर आकर्षण करनेकी है। क्या चाहता है यह जीव? जो चाहता है मान लो हो गया सब। यह चाहता है कि लोगोंसे हमारा कुछ सम्बन्ध रहे, ये महल मकान खडे हो जायें। यह चाहता है पञ्चेन्द्रियके विषयोंके साधन हमारे विशेष रहें। सब हो गया। सब हो जानेके बावजूद भी इस जीवके साथ क्या लगता है। और ऐसा क्या भव-भवमें नहीं हुआ? सब जगह होता आया पर यह जीव एक इसी भवमें इसी भवको उन बातोंके लिये फालतू मान ले याने यही यही कम

समागम बेकारके काम भव-भवमें चलते आये तो एक भवको हम समागम और बेकारके विकल्पोंसे रहित बनाकर अपनेको अकिञ्चन जानकर अपने आपमें ही गुप्त रहकर धर्मपालन कर लें तो इसका उद्धार हो जायेगा।

आत्मसेवाका चिन्तन—मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हू, मैं दुनियामें कुछ नहीं हू, मै जो हू अपने लिए हू, मुझे कोई जानता नहीं और जिसे जानता है कोई वह जानन मेरा नहीं और हमारा भी हो कोई, इसकी मुझे आवश्यकता नहीं है, कोई जाने कोई प्रशंसा करे कोई यश गाये, कोई कुछ भी करे तो उससे इस आत्माको लाभ कुछ नहीं होनेका है। मैं तो सबसे गुप्त हू, सबसे निराला हूं। इस निराले अपने आपकी ओर नहीं झुके इस वजहसे हम आप इतना स्वरूपसे भ्रष्ट रहे कि नाना विकल्पोंको जिस चाहे को विषय बनाकर खेद पाते रहे। है इतनी हिम्मत ? होनी चाहिए इतनी हिम्मत, किसी भी समय हम इस सारी दुनियाको अपरिचित जानकर मेरे लिए चाहे कोई कुछ कहे, भला कहे बुरा कहे, यश हो अपयश हो, न नाम हो, कुछ भी स्थिति गुजरे, दुनियामें यह मैं आत्मा अपने आपके घर में सुरक्षित बैठ सकूँ, विश्राम ले सकूँ ऐसा कोई गुप्त यत्न करे तो उसकी महत्ता है। इस कामके बिना अज्ञानीका तो सारा जीवन कुछ जीवन नहीं है। यह निर्जराके लिए उद्यमी पुरुष वैराग्यकी पदवीको प्राप्त करके जैसे जैसे तपश्चरण करता है वैसे ही वैसे दुर्गम कर्मोंका क्षय करता है, इसके लिए प्रथम चाहिए आत्मा अनात्माका ज्ञान।

भावदृष्टिसे आत्मा व अनात्माका ज्ञान—भावदृष्टिसे आत्मा अनात्मा को इस गड़बड़की क्या स्थिति है ? यह इतने निकट रहकर भी आत्मा अपने स्वभावमें है। स्वभाव परिवर्तित नहीं होता। स्वभाव परिवर्तन त्रिकाल हो भी नहीं सकता, यह वस्तुका स्वरूप है, इसको ही बताने वाला धर्म है जैनधर्म। यही वस्तु धर्म है। वस्तुधर्मको कोई जाने तो क्या न जाने तो क्या, वस्तुधर्म कभी नहीं मिटता। इस जैनधर्मके मर्मके पहिचानने वाले न रहें तो भी मर्म मिटता नहीं है। पहिचानने वाले हों तो वे अपना उद्धार कर लेते है। समस्त पदार्थोंमें उनका जो स्वभाव है, स्वरूप है वह स्वरूप एकका अन्यमें त्रिकाल नहीं प्रवेश होता। हम ही कल्पनाएँ करके अपने स्वभावसे चलित होकर बाह्यमें दृष्टि फंसाकर दुःखी हुआ करते हैं, कल्पनाएँ बनाया करते, यह हमारी मुग्धता है। पर भावदृष्टिसे देखो तो आत्मा और अनात्मामें ये दोनों अपने-अपने स्वरूपमें हैं ऐसी दृष्टिकी साधना जिस समागममें बने, उस समागमका आदर होना चाहिए। आभार मानना चाहिए।

निकटमें धर्मके वातावरणकी आवश्यकता— धार्मिक वातावरणका समागम घर ही का बन जाय, घरके ही बालक, घरकी ही स्त्री, घरके ही पुरुष सब इस रंगमें रंग जायें, संसार, शरीर, भोगोंके यथार्थ स्वरूप को जानकर उनसे विरक्तिके परिणाममें रंगे हुए हो जायें ऐसा घरका समागम बने, वह भी समागम बहुत अडिग लाभ करने वाला है। बाहरी समागम किसी ज्ञानी विद्वानका मिले वह तो थोड़े समयका है किन्तु घरका ही वातावरण इस रंगमें शक्ति अनुसार रंग जाय कि सब धर्मके प्रेमी बनें तो उस वातावरणका अधिक असर रहता है।

स्वाधीन महान् कार्य— भैया! धर्मसाधनमें लगना, धर्मबाधकों पर विजय पाना यह सब ज्ञानसाध्य है। एक जगह गुणभद्रस्वामी ने लिखा है कि हे मुने! यदि तुमसे बहुत तपश्चरण करते नहीं बनता तो मत करो क्योंकि तुम सुकुमार हो, तपश्चरण करनेमें समर्थ तुम्हारा शरीर नहीं है, लेकिन जो बात श्रमसे नहीं होती, शारीरिक क्लेशसे नहीं होती, किन्तु केवल चित्तसाध्य है अपने एक सोचनेके द्वारा ही काम बनता है उस कामको भी यदि नहीं कर सकते तो इससे बढ़कर और अज्ञानपन क्या कहलाये? वह क्या काम है जो केवल सोचनेके द्वारा ही बन जाता है। लोग कहते हैं कि चिन्तामणि रत्न ऐसा होता है कि समीपमें हो तो जो सोचो सो सिद्ध हो जाता है, यहाँ और भी स्वाधीनताकी बात कह रहे हैं। केवल सोचने के द्वारा ही काम बन जाय, ऐसा काम यदि नहीं किया जा सकता तो इससे बढ़कर और अज्ञता क्या होगी? तपश्चरण नहीं करते बनता मत करो। क्या है वह चित्तसाध्य कार्य—क्रोध, मान, माया लोभ इन कषाय वैरियों पर विजय पा लेना केवल एक सोचनेके द्वारा साध्य है। कषायोंका मिटना हाथ पैरके कार्यों द्वारा साध्य नहीं है। कषायों का मिटना बड़े बड़े शारीरिक तपश्चरणोंके द्वारा साध्य नहीं है। हां ये तपश्चरण एक हमारे उपयोगको बदलनेके साधन होते हैं। पर साक्षात जो कषायोंपर विजय पायी गई है वह ज्ञानके द्वारा पायी गई है। तो जो चीज मात्र हमारे सोचनेके द्वारा ही साध्य है वह काम नहीं किया जा सकता तो यह तो एक अज्ञताका ही काम है। गुणभद्रस्वामीने तपस्वी मुनियोंको समझाया है, इस प्रकारके तपश्चरण न करते बने, मत करो क्योंकि तुम सुकुमार शरीरके हो लेकिन केवल ज्ञानस्वरूपका विचार ध्यान के द्वारा जो बड़ीसे बड़ी बात बनती है, जो खास पुरुषार्थ है, मोक्षमें ले जानेका साधन है वह कार्य न बन सके तो यह तुम्हारी अज्ञताकी बात है।

ज्ञानरूप साहसका कर्तव्य—कितना स्वाधीन यह कल्याणका काम है। इसमें ज्ञानका साहस चाहिए। शरीर भी दुर्बल है, वृद्ध है वह भी बाधक

। हैं हमारे इस मोक्षमार्गके पुरुषार्थमें। अज्ञान बाधक है। यह आत्मा
ने ही प्रदेशोंमें रहता हुआ कल्पनाएँ किया करता है। यह मेरा है,
भला है, इसमें हित है इसमें ही बड़प्पन है, इससे ही कुल चलेगा,
में ही नाम चलेगा आदिक केवल अपने भीतर ही बैठे बैठे कल्पनाओं
यह वेदना मोल ले ली है और यहाँ अपने आपमें ही विराजे हुए अपनी
ओर ही झुककर यह मैं सबसे निराला हू, स्वरूप ही मेरा ऐसा है कि मैं
शुद्ध हू, मैं ही क्या समस्त पदार्थ शुद्ध हैं। शुद्धका अर्थ है मुझमें दूसरेके
...पकी लगार नहीं आती। किसी दूसरे पदार्थका स्वरूप किसी दूसरे
...ार्थमें लगता नहीं है, अतएव स्वरूपदृष्टिसे मैं शुद्ध हू।

मेरा ज्ञान स्वरूप—मेरी बोडी, जिससे मैं बना हुआ हू वह समस्त
स्वरूप क्या है? एक ज्ञान। जैसे किसी चीजको जानने चलते है कि यह
चीज बनी कैसे है? यह चौकी किस चीजसे बनी है, यह पुस्तक किस
चीजसे बनी है, ऐसे ही अपने आपके बारेमें निर्णय करें कि यह मैं
आत्मा किस चीजसे बना हू, क्या स्वरूप है? इन चर्मनेत्रोंको बन्द करके
और नेत्रोपम ज्ञानको ज्ञाननेत्रको भीतर और दौड़ा करके देहकी भी
सुध न रहे, इसको नहीं परखना है और भीतर निरखे तो वहाँ सिवाय एक
ज्ञानके और कुछ नहीं मिलता। इसमें और जितने भी गुण बनाये जाते
हैं आनन्द है, शक्ति है, श्रद्धान है, ज्ञान है, आचरण है सूक्ष्म है, अमूर्त
है वे सब इस ज्ञानकी प्रतिष्ठाके लिए बनाये गए हैं। वह ज्ञान किस
प्रकारका है, वह मेरा स्वरूप किस प्रकारका है, इसकी प्रसिद्धिके लिए
बताया गया है। वह निराकुल है, वह सूक्ष्म है, वह सब ज्ञानकी विशेषता
है। ज्ञानमें और मुझमें भेद नहीं है। उस ज्ञानस्वरूपकी ओर झुक करके
कुछ अपने आपमें अपने स्वरूपका चिन्तन किया जाय तो इसे रोकना
कौन है? लो इस भीतरी पुरुषार्थके द्वारा यह ज्ञानी आत्मा अपनेको
मोक्षमार्गी बना रहा है। सदाके लिए ससार संकटोंसे छूटनेका उपाय कर
रहा है।

जिनागमका सार वीतरागताकी प्रेरणा—जिन आगमका सार इतना
ही है कि जो मोह रागद्वेष करेगा वह संसारमें फसेगा और जो मोह
रागद्वेषसे दूर होगा वह मुक्तिके निकट जायेगा। बड़ी परेशानी है। शायद
इतनी परेशानी अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको न होती होगी क्योंकि उसका एक
... निर्णय है और वैसा ही आचरण है (हँसी) परपदार्थ मेरे हैं और
उन्हीं में रागद्वेषका आचरण है, उनका क्लेश तो है कई गुणित, मगर
उस जातिका क्लेश नहीं होता जिस जातिका क्लेश एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि
पुरुषको किसी पदवीमें होता है कि पहुचना तो है आत्मामें और कषाये

झकझोर रहे हैं बाहरकी ओर ये कितनी प्रेरणा करके किस ओर ले जायेंगे। यह स्व और परका तनाव और उस द्वन्द्वके बीचमें यदि यह कोई ज्ञानी पड़ जाता है तो अपनी दृष्टिसे कह रहा कि हाय! यह बड़ी विपदा है। जैसे स्वप्नमें कोई उत्तम चीज निरखते हैं, उसे उठानेकी कोशिश करने पर उठा नहीं पाते, बल्कि निकट है और फिर भी कुछ अपने आपमें कोई रोकने वाला भी नहीं है, पर क्या-क्या होता है कि उसको नहीं उठा पाते हैं, यों स्वप्नमें वहाँ परेशानी अनुभव करते हैं। इस ज्ञानी पुरुषको आनन्दका निधान इसके बिल्कुल समक्ष है, पर कषायोंकी ऐसी प्रेरणा है कि उस प्रेरणाके कारण उस आनन्दनिधानमें मग्न नहीं हो पाता है। यह एक बड़ी विपदाकी बात है।

कर्तव्यकौशल्यका अनुरोध—भैया! परवाह न करें, निर्णय एक बनायें कि यह जैनधर्म पाया है, जैनशासनका सुयोग बड़े ही सौभाग्यसे मिलता है। जहा सत्य श्रद्धान, सत्यज्ञान और सत्य आचरण सिद्धान्तोंमें, प्रयोगमें सबमें जहा सच्चाईकी बात सिखाई गई है उस पर हम चलें और जो हमारे कर्तव्य बताये हैं देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, सयम, यथाशक्ति तपश्चरण, दान, इन कर्तव्योंमें चलते हुए, ज्ञानार्जनकी ओर विशेष दृष्टि करते हुए अपने आपकी ओर झुकते रहें और सबसे निराले ज्ञानानन्द स्वरूप अपने आत्माकी प्रतीति बनाये रहें, ऐसा ध्यान ऐसा चिन्तन एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। इसमें जैसे-जैसे वृद्धि होती जायेगी कर्मोंकी निर्जरा भी वैसे-वैसे बढ़ती जायेगी। तो हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपनी ओर अधिक झुकें, अपने भीतरसे अपने ज्ञानमें अपनेको अधिकाधिक लगायें।

ध्यानानलसमालीढमप्यनादि समुद्भवम्।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत्॥१९७॥

कर्मका अनादिबन्धन—इस जीवके साथ कोई चीज ऐसी अवश्य लगी हुई है जिसके निमित्तसे जीवमें ये असंख्यातों प्रकारकी विभिन्न हालतें हो रही हैं। यदि जीवके साथ कोई दूसरी वस्तु न लगी होती तो जीव स्वय अपने स्वरूपसे असख्यातों तरहका न बनता। कोई जीव पशु है, पक्षी है, मनुष्य है, कीट है, पतिंगा है और उनमें भी नाना तरहके कर्मफल हैं। मनुष्य भी कोई श्रीमन्त है, कोई दरिद्र है, कोई विशेष ज्ञान वाला है, कोई कम ज्ञान वाला है आदिक जो नाना भाव हैं। ये भेद इस बातको सिद्ध करते हैं कि जीवके साथ कोई चीज ऐसी लगी हुई है जिसका निमित्त पाकर जीवका विकार चलता रहता है। इसका नाम है कर्म। जो चाहे नाम रख लीजिए। नामसे कुछ फर्क नहीं आता। चीज

बताना है। तो जीवके साथ कर्म लगे हैं और ये कर्म कबसे लगे हैं ? इस की कोई सीमा नहीं रख सकते। यदि कहेंगे कि अमुक दिनसे जीवके साथ कर्म लगे हैं तो उस दिनसे पहिले क्या जीवके साथ कर्म न थे ? अगर न थे तो इसका अर्थ है कि जीव पहिले कर्मरहित था, शुद्ध था, मुक्त था तो जो जीव पहिले शुद्ध था, फिर उसके साथ कर्म लगनेका कारण क्या ? इससे यह सिद्ध है कि जीवके साथ कर्म लगे हैं और वे अनादिकालसे लगे हैं। अनादिकालसे लगे हुए कर्मोंके कारण जीवके साथ सुख दुःख जन्ममरण असंख्याते तरहकी हालतें हो रही हैं।

वर्तमान परिस्थितिपर निर्णय—जीवकी वर्तमान परिस्थिति है ऐसी कर्ममलीमस। अब यहाँ सोचो कि ऐसी परिस्थिति ही अपनी बनाये रहना है या कुछ परिवर्तन करना है। जीवके साथ कर्म लगे हैं और उनके उदयसे सुख दुःख चलते हैं, जन्म मरण चलते हैं, ऐसी स्थिति क्या आपको प्रिय है ? प्रिय नहीं है। कोई सुख भी हो जाय, इन्द्रियज सुखके साधन भी जुड़ जायें तो भी चूँकि वह शाश्वत नहीं है, सदा नहीं रहता और पराधीन है तथा वह सुख भी जीवके विरोधविकारको ही उत्पन्न करता रहता है, इस कारण वह भी हेय हैं तो कर्म सहित स्थिति पसद न होना चाहिए। यह भीतरसे इच्छा जगनी चाहिए कि मेरी कर्मरहित स्थिति बने। लेप न चाहिए, बोझ न चाहिए। मैं निर्भार केवल अपने स्वरूपमात्र रहूं ऐसी इच्छा जगनी चाहिए। निर्भार केवल अपने स्वरूपमात्र जो रह रहे हैं उनका नाम है परमात्मा, मुक्त जीव, इनके कोई भार नहीं। यहां ममता लगी है, रागद्वेष चल रहे हैं। किसे अपना मान रखा ? हैं सब भिन्न जीव, पर किसीको माना कि यह मेरा है और उसके अलावा औरोंको माना कि ये गैर हैं, यह अज्ञानका अंधेरा है। जब देह तक भी अपना नहीं है तो किसी अन्य जीवको अपना कहना, अपना बनानेकी कोशिश करना, ये सब अज्ञानकी बातें हैं। इन कर्मोंके लगे रहनेसे हम आपको लाभकी बात कुछ नहीं मिलती। बरबादी ही बरबादी है।

कर्मोंके दूर करनेका यत्न—इन कर्मोंको दूर कैसे किया जाय ? इसका क्या यत्न ठीक है, इस पर विचार करें तो मोटे रूपमें यह बात निर्णयमें मिलेगी कि ये कर्म कैसे लगे ? जैसे लगे हों उससे उलटा काम करने लगे कर्म टल जायेंगे। ये कर्म लगे हैं कषायें करनेसे। कषायें न करें, कर्म टल जायेंगे। ये कर्म लगे हैं मोह बसानेसे, मोह न कर, कर्म टल जायेंगे। मोह और कषायें उत्पन्न न हों, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम सबका सही-सही ज्ञान करें और उसमें हम अपना जैसा स्वरूप पायें बस उस ही स्वरूपमें उपयोग लगायें, मग्न रहें। इस स्थितिका नाम है ध्यान। ध्यान-

रूपी अग्निका स्पर्श हो जाय तो ये अनादिकालसे लगे हुए कर्म बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जैसे कि पहाड़ बराबर ईंधनका ढेर भी रखा हो और उसमें अग्निका स्पर्श करा दिया जाय तो बहुत ही शीघ्र इतने बड़े पहाड़ को भी यह अग्नि जला देगी।

वर्तमानमें कर्मोंका ढेर और उससे छुटकारा—इस जीवके साथ अनादि कालसे परम्परया कर्म चले आ रहे हैं और आज इतने कर्म हम आपके साथ जुड़े हुए हैं। सम्भव है ये कर्म अनगिनते भवोंके लगे हुए हों। ४८ मिनटमें ६६३३६ बार जन्म मरण हो सकता है जीवका। निगोद भवमें जब यह जीव था तो इसका ४८ मिनटमें ६६३३६ बार जन्म मरण हुआ। तो एक दिन रातमें ही लगा लो कितने बार जन्म हुआ। करीब बीस लाख बार हो जायेगा। कोई निगोद जीव एक वर्ष भी रहा हो तो कितना हो जायेगा, करीब तीस करोड़ बार जन्म हो जायेगा। और कर्म जो इसके बंधे हैं या निगोद होनेसे पहिले बंधे हैं वे कर्म अब तक हम आपके साथ सम्भव हो सकते हैं। तो अनगिनते जन्मोंमें बांधे हुए कर्म आज भी हम आपके साथ हैं। इतना तो यह ढेर है कर्मोंका। किन्तु आत्मामें ध्यान-रूपी अग्निका स्पर्श हो जाय तो इतना बड़ा ढेर भी शीघ्र नष्ट हो जाता है और फिर कर्मोंके नष्ट होनेपर यह जीव शुद्ध हो जाता है। जैसे स्वर्ण में अग्निका स्पर्श होने पर स्वर्णकी किट्ट और कालिमा (कलंक) दूर हो जाती है इसी प्रकार अनादिकालसे चले आये हुए कर्मोंसे मलिन यह आत्मा यदि अपना ध्यान करे तो उस ध्यानके प्रसादसे ये अनादिसंचित परम्परासे चले आये हुए कर्म शीघ्र खिर जायेंगे। और यह आत्मा अग्नि-तप्त स्वर्णकी तरह निर्दोष निर्लेप निरञ्जन निष्कलंक हो जायेगा। यह है स्थिति हम आपके आनन्दमय होनेकी।

निर्मोहतासे ही सर्व सफलता—भैया ! इस जीवनमें यदि जैनधर्मका संयोग पाया, धार्मिक वातावरण पाया, शरीर भी निरोग पाया, आजी-विका भी स्थिर पायी तो इसमें सफलता इस बातकी है कि यह जीव बाहरी पदार्थोंका मोह त्यागकर भले ही वे सब निकट लगे हुए हैं, पर रुचि न रखकर, रुचि रखे बिना आत्मस्वरूपकी, ज्ञानस्वरूपकी, सहज चेतनारूपी जो अपना स्वरूप है उसकी प्रतीति रखा करे, इससे ये दुर्लभ पाये हुए समागम सफल हो जायेंगे। इसके विपरीत याने बाह्य पदार्थोंकी आदेयताका जरा विचार भी न करें।

धन प्रसंगसे अलाभ—धन इकट्ठा करना है तो मान लो हो गया ---- एक घरमें बहुतसा जमा हो गया अब यह बतलावो कि उस धन

के जमा हो जाने से इसे सुख शान्ति क्या आयी, बल्कि विकल्प बढ़ेंगे। जितना धन जुडेगा, परिग्रह जुड़ेगा उतने ही विकल्प बढ़ेंगे। इसकी रक्षा करना, उसकी वृद्धि करना, अपने से और बड़ोंको देखकर इच्छा ऐसी होना कि अभी मैं कुछ नहीं हू, मै इनके बराबर हो जाऊँ, दसों प्रकारकी आफतें विडम्बनाएँ लग जायगी। तो धन इकट्ठा रखा जानेसे लाभ क्या पा लिया जायेगा ?

यशप्रसगसे अलाभ—लोगोंकी अन्तरमे भावना यह रहती है कि मेरा नाम, यश लोगोंमें बहुत-बहुत फैल जाय। मान लो फैल गया। यशके मायने क्या कि बहुतसे लोग कभी कभी इसका नाम ले लें, अमुक बड़ा अच्छा है, इतनी सी बात बने, इसका ही तो नाम यश है। यशमें और क्या रखा है ? यशसे कहीं पेट भी नहीं भरता, यशसे कही शान्ति भी नहीं मिलती, यश कोई आनन्दका साधक नहीं है। यशमें दृष्टि फसाने से जीवमें मलिनता ही रहती है। तो क्या तत्त्व निकला यशसे ? जरासे यशके लिए जीवन भर सकल्प विकल्प किए जायें, दूसरोंकी पराधीनता सही जाय। उस यशसे भी जीवको क्या सिद्धि हुई ? कौन कौन सी ऐसी बातें हैं जिनको आप चाहा करते हैं, उन सबके सम्बन्धमे खूब सोच लो।

राज्यप्रसगसे अलाभ—यह भी चाहते हैं लोग कि मैं कोई राज्यका अधिकारी बन जाऊँ। मान लो बन गए अधिकारी, बन गए राजा तो राज्यके अधिकारी बनकर भी लाभ क्या पा लिया जायेगा ? खूब सोच लो, बल्कि क्लेश ही होगा। किसी नगरका राजा गुजर गया तो मन्त्रियोंने सोचकर कुछ ऐसी बात रखी—मान लो हाथीकी सूँडमें माला लटका दी, यह हाथी चल फिर कर जिसके गलेमें माला डाल दे उसे राजा बना दे। सो उस हाथीने एक लकड़हारेके गले में माला डाल दी। जो लकडी ढो ढोकर खेद खिन्न रहा करता था। अब क्या था, वह लकड़हारा राजा बना दिया गया। अब १०—५ दिनके बाद वह लकड़हारा राजा जब उठे तो मन्त्रियोंके कधेपर हाथ धर कर उठे, तो मन्त्रियोंने पूछा—महाराज आप तो लकड़िया ढोते थे और अब १०-५ दिनमे ही क्या हो गया कि आप खुद उठ भी नहीं सकते, मन्त्रियोंके कंधोंका सहारा लेकर आप उठते हैं ? तो वह राजा बोला—ऐ मन्त्रियों ! पहिले तो मेरे ऊपर लकड़ियोंका ही बोझ रहता था, लेकिन अब मेरे ऊपर सारे राज्यका बोझ है। हममें अब वह शक्ति नहीं रही कि अपने सहारे उठ सकें। सो राजपाट भी आ जाय पल्ले तो उससे जीवको सिद्धि क्या होगी ?

आत्मधर्ममे ही हित—एक अपने आत्माके ज्ञान और धर्मके अतिरिक्त अन्य सब बातोंमें कल्पनाएँ करते जाइये, जो बात इष्ट हो, मान लो मिल

गया वह सब, तो उससे भी इस जीवका क्या हित है ? ये सब समागम प्यार करने योग्य नहीं हैं, इनसे उपेक्षा रखकर अपने आत्माका जो स्वरूप है, जो प्रभुकी तरह है उस स्वरूपका आदर करें, उस स्वरूपमें मग्न होने का यत्न करें, यह तो भले उपायकी बात है। ऐसा न करके बाहरी पदार्थों में ही मन जुटाये रहते हैं तो वह कल्याणका उपाय नहीं है।

तपस्तावद्बाह्य चरति सुकृती पुण्यचरित—
स्ततश्चात्माधीन नियतविषय ध्यानमपरम्।
क्षपत्यन्तर्लीन चिरतरचित कर्मपटलम्॥
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम्॥१६८॥

शान्तिका ज्ञानसे सम्बन्ध—मुक्तिका उपाय रचने वाला भव्य जीव क्या-क्या करता है जिससे उसकी निर्मलता बढ़ती और उस निर्मलताके कारण मुक्ति प्राप्त की जाती है। क्या करते हैं ज्ञानीजन ? सबसे पहिली बात तो ज्ञानकी है। जिसके अज्ञान दशा है उसके जगह-जगह विपदायें हैं, ठोकरें हैं और जिसके ज्ञान है उसके किसी कारण दरिद्रता भी आ जाय, अन्य सकट भी आ जायें तो भी वह अपने अन्तरङ्गमें व्याकुल न होगा। सुखका सम्बन्ध ज्ञानसे है। बाहरी वैभवसे सुख शान्तिका सम्बन्ध नहीं है। इन समस्त विडम्बनाओंका फर्क इससे ही तो आया कि लोग बाह्य आडम्बर और वैभवसे सुख शान्ति मानते हैं पर सुख शान्ति है ज्ञान से। तो सर्वप्रथम ज्ञान तो होना ही चाहिए, जिसके विना, हम मोक्षमार्गमें प्रगति नहीं कर सकते। इतना ज्ञान होनेके बाद अब इसका आचरण कैसा होना चाहिए ? इस आचरणका वर्णन इस छदमें किया गया है।

करणीय आचार और ध्यान—पहिले तो यह ज्ञानी जीव बाह्य तपश्चरणका आचरण करे, उपवास करना, कम खाना आदिक बाह्य तपश्चरणोंका आचरण करे, पश्चात् फिर वह आभ्यतर तपका आचरण करे, जैसे अपने दोषोंका निरखना, उन दोषोंका प्रायश्चित्त लेना, स्वाध्यायमें प्रवृत्ति रखना आदि जो आभ्यतर तप हैं उन तपोंका आचरण करे और फिर उन आभ्यतर तपोंमें जो उत्कृष्ट तप है ध्यान, जिसके विना कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता इसकी पूर्ण साधना करें। इन १२ तपोंमें से अन्य तप चाहे कम भी रह जाये तो भी जीवको मुक्ति हो सकती है, किन्तु ध्यान नामका तप ऐसा है कि जिसके विना कोई मुक्त नहीं हो सकता। पुराणोंमें कथानक आया है कि भरत जी को कपड़ा उतारते उतारते ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तो यह लोगोंको दिखता है, सुना है, पर आत्मध्यान तो उनके भी हुआ था जिसके प्रसादसे शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त किया। तो इस अन्तरग तपमें प्रधान तप है ध्यान ध्यानके। प्रसादसे

कर्म नष्ट होते हैं।

कल्याणका स्वाधीन उपाय—देखो भैया! कितनी सुगम बात बतायी गई है? केवल ध्यान बदलना है कि लो सब कुछ प्राप्त कर लिया। कुछ इसमें कष्टकी बात भी नहीं कही गयी, कोई बड़ी तपस्याकी बात नहीं है केवल एक ध्यान बदल ले, देहसे न्यारा ज्ञानमात्र मैं हू ऐसा अपना निर्णय कर ले और फिर इस ज्ञानस्वरूपमें ही अपनी दृष्टि बनाये रहे, सिद्धि होगी। तो पहिले तो ज्ञानीपुरुष ज्ञानार्जन करे, फिर बाह्य तप भी करे, आभ्यंतरका आचरण करे, इसके पश्चात् अन्तरंग तपका आचरण करे, इसके बाद स्वाधीन नियत विषय वाले उत्कृष्ट आत्मध्यानको बनाये। अन्य पदार्थोंपर ध्यान जायेगा तो सैकड़ों तरहके विकल्प बनेंगे। उस ध्यानका रूप भी सैंकड़ों प्रकार का बनेगा और एक आत्माके ध्यानमें लगे तो एक ही प्रकारका ध्यान होगा। जितने साधु सतजन हुए हैं उन सबका ध्यान जब अध्यात्मध्यान चल रहा होगा तो ठीक सबका एक ही प्रकारका अपना ध्यान चल रहा होगा। ध्यानके भेद बाह्यध्यानोंमें तो हैं पर आत्मध्यानमें ध्यानका भेद नहीं है। वह तो सबका एक ही प्रकारका है। तो कर्तव्य यह हो कि हम ध्यान नामक तपको महत्त्व दें और यथाशक्ति उस तपश्चरणमें लगें, इस तपसे चिरकालसे इकट्ठा किए हुए कर्मपटल नष्ट हो जाया करते हैं। जब कर्म दूर हो गये तो यह आत्मा उत्कृष्ट आनन्दके घरमें प्रवेश करेगा अथवा निज ज्ञानरूपी समुद्रमें प्रवेश करेगा। यों यह आत्मा सम्यग्दर्शन करे, सम्यग्ज्ञान करे, सम्यक्आचरण करे तो इस रत्नत्रयके प्रसादसे वह उन्नति करता करता मुक्तिको प्राप्त करता है।

प्रभुभक्तिकी पद्धति—अच्छा, अब जरा एक मोटी सी बात सुनो—आप जिस भगवानके दर्शन करते हैं, जिस भगवानकी मूर्तिकी स्थापना करके आप पूजन करते हैं, क्या चित्तमें कभी यह बात भी उठाई कि स्वरूप तो यह है, आनन्दमय स्थिति तो यही है, हमें भी ऐसा ही होना चाहिए तब सुख शान्ति मिलेगी। ऐसी अपने अन्तरकी आवाज मनमें प्रभुमूर्ति के दर्शन करते समय उठाई गई क्या? भगवानके दर्शन तो करते आ रहे पर बढ़िया मानते जा रहे अपनेको ही तो भगवानका क्या दर्शन किया? अभिमान तो ज्योंका त्यों बना रहे, मानो उसने दर्शन भी एक इस अभिमानकी बातको करनेके लिए किया है। तो वहाँ भी यदि शुद्ध ध्यान रहे तो दर्शनका लाभ है, पूजनका लाभ है और केवल अपनी स्वार्थपूर्तिकी आशासे ही प्रभुभक्ति की तो वह प्रभुभक्ति नहीं है।

संवरपूर्वक निर्जरासे श्रेयोलाभ—यह निर्जरा तत्त्वका प्रकरण है। इसमें यह बात दिखायी है कि देखो जीवका और कर्मका सम्बन्ध अनादि

कालसे लगा है। जब कभी काललब्धि आये तो जिस कालमें इस जीवको सम्यक्त्व प्रगट होगा वह काल आये और यह अपने स्वरूपको सभाले, तपश्चरण करके ध्यानमें तल्लीन हो तो इस जीवके कर्मबन्धन रुक जाता है और जब नवीन कर्म न आये और तपश्चरण सही जारी चल रहा है तो पूर्वबद्ध हुए पुराने कर्मोंकी निर्जरा कर लेते हैं तो संवर हुआ अर्थात नवीन कर्मोंका आना रुक जाय और अपने परिणामोंसे पूर्वमें बाँध गए कर्मोंका क्षय कर दिया जाय तो इसमें ही मुक्तिकी अवस्था प्रकट होती है। हमें यदि मोक्ष चाहिए, निराकुलता चाहिए तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने स्वरूपको सही रूपमें जाने और इस ही रूपमें मग्न होनेका उपाय रचें, यही एक सही काम करनेको पड़ा हुआ है। मोह ममतामें, रागद्वेषमें, क्षोभमें, झगड़ेमें इन बातोंको करके ऊबते रहनेमें कोई तत्त्वकी बात न मिलेगी, कोई सारकी बात न होगी। यह दुर्लभ नर-जीवन खोटा हुआ समझिये। इस रत्नत्रयकी आराधना हो, रागद्वेष मोह दूर हों तो हम आनन्दकी स्थिति पा सकते हैं।